नमो भगवतेवासुदेवाय ।

विज्ञापन ।

महात्मागण प्रतिष्ठित "निगमागममण्डली" के नियमानुसार निगमागमप्रकाशक्रम (Nigamagam Series) का प्रथम संख्यक पुस्तक "नवीन दृष्टिमें प्रवीन भारत" नामक पूर्व्वही प्रकाशित होचुका है अब "भक्तिदर्शन" नामक द्वितीय संख्यक पुस्तक यह प्रकाशित हुआ । इसी क्रम के अनुसार सब दर्शनशास्त्र, उपनिषद्, आर्षसंहिता आदि नाना आवश्यकीय ग्रन्थ श्रीमत् आचार्य्य कृत भाष्य सहित प्रकाशित होते रहेंगे । साधुगणों को आशा है कि, इस प्रकार के अनुभवी महात्मागण विरचित सारगर्भ एवं सार्व्वभौममत-युक्त लेखोंद्वारा भारतवासियों को विशेष लाभ पहुँच सकेगा । श्रीभगवान् इस भारत हितकारी कार्य्य की रक्षा करैं ॥

निगमागममण्डली ।

कलाब्दाः ४९९९.

ॐ

मङ्गलाचरणम् ।

अजन्मानोलोकाः किमवयववंतोपिजगतामधिष्ठातारंकिंभवविधिरनादृत्य भवति ॥ अनीशोवाकुर्याद्भुवनजननेकःपरिकरोयतोमंदास्त्वांप्रत्यमरवरसंशेरतइमे ॥ त्रयीसांख्यंयोगःपशुपतिमतंवैष्णवमिति प्रभिन्नेप्रस्थानेपरमिदमदःपथ्यमितिच ॥ रुचीनांवैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषांनृणामेकोगम्यस्त्वमसिपयसामर्णवइव ॥ मनःप्रत्यक्चित्तेसविधमविधायात्तमरुतः प्रहृष्यद्रोमाणःप्रमदसलिलोत्संगितदृशः ॥ यदालोक्याह्लादंह्रदइवनिमज्ज्यामृतमयेदधत्यंतस्तत्त्वंकिमपियमिनस्तत्किलभवान् ॥ त्वमर्कस्त्वंसोमस्त्वमसिपवनस्त्वंहुतवहस्त्वमापस्त्वंव्योमत्वमुधरणिरात्मात्वमिति च ॥ परिच्छिन्नामेवंत्वयिपरिणता बिभ्रतु गिरं न विद्मस्तत्तत्त्वंवयमिहतुयत्वं न भवसि ॥ त्रयीं तिस्रोवृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरानकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ॥ तुरीयंतेधामध्वनिभिरवरुंधानमणुभिःसमस्तंव्यस्तंत्वांशरणदगृणात्योमितिपदम् ॥ नमोनेदिष्ठायप्रियदवदविष्ठायचनमोनमःक्षोदिष्ठायस्मरहरमहिष्ठायचनमः ॥ नमोवर्षिष्ठायत्रिनयनयविष्ठायचनमोनमःसर्वस्मैतेतदिदमितिशर्वायचनमः ॥ बहलरजसेविश्वोत्पत्तौभवायनमोनमः प्रबलतमसेतत्संहारेहरायनमोनमः ॥ जनसुखकृतेसत्वोद्रिक्तौमृडायनमोनमःप्रमहसिपदेनिस्त्रैगुण्येशिवायनमोनमः ॥

ओंहरिः

उपहारपत्र ।

परम कल्याणास्पद कृष्णगढ़ नरेश महाराजा श्रीमान् शार्दूलसिंह धार्म्मिकवरेषु परमशुभाशीर्वाद-

विज्ञापनमिदम् ।

राजन् ! आपकी धर्म्मबुद्धि, शीलता और भगवद्भक्ति से यह शरीर आप पर अतिशय प्रसन्न है। श्रीभगवान्‌के निकट यही प्रार्थना है कि, आप दीर्घायु होकर भारत के राजकुलों में स्वधर्म्म, सदाचार, भगवद्भक्ति और भ्रातृप्रेम विस्तार करते रहैं। आपका भ्रातृ-स्नेह तथा आपके मध्यम भ्राता तपस्वाध्याय-निरत परमधार्म्मिक श्रीमान् जवानसिंहजी और कनिष्ठ भ्राता सुशील श्रीमान् रघुनाथसिंहजी की भ्रातृभक्ति तथा सदाचार आज दिन आदर्श रूप है इस में संदेह मात्र नहीं। श्रीभगवान् आप लोगोंको कुशल में रक्खें ॥

इस "भक्तिदर्शन" में भगवद्भक्तिका यथार्थ रूप निर्णय किया गया है; आप भगवद्भक्त हैं इस कारण इस पुस्तक के पाठ करनेसे आनन्द को प्राप्त होंगे इस विचार से यह ग्रन्थ आपके करकमल में शुभआशीर्वाद सहित उपहार-प्रदान किया गया। विज्ञापनमिति।

आपका मङ्गलाकाङ्क्षी-

ग्रन्थकर्त्ता.

ओं नमो भगवते वासुदेवाय।

भक्ति।

जब त्रिताप से तापित होकर जीव मूर्च्छित होने लगता है; न जानें कहां से दुःखरूप उत्ताल-तरंग-राशि आकर जब जीव को अशांतिरूप सागर में डुवाने लगती है, जब संयोग-भोग-वियोगरूप अनलशिखा से जीव विदग्ध होकर "किंकर्तव्यविमूढ़" हो रोय रोय जिधर तिधर भटकने लगता है, तब न जानें अंतर हृदय में कौन हृदयसखा आनकर जीव के दुःख दूर करने का आश्वासन दे उसको गोद में लेलेते हैं? जब कठिन रोग-शय्याशायी जीव घोरयंत्रणा से अति पीड़ित हो छटपटाने लगता है, क्या पिता माता का स्नेह, क्या कन्या पुत्र की श्रद्धा, क्या स्त्री का प्रेम, क्या वैद्यों की औषधि, और क्या सेवकगणों की सेवा, कुछ भी उसके मर्मविदारक क्लेशों की शान्ति नहीं कर सके, जब असार संसार वन में स्वतः ही नाना दुःखरूपी वड़वानल उत्पन्न होकर निःसहाय जीवको चारोंओर से घेर लेते हैं, और किसी ओर से भी उसके वचने की आशा नहीं रहती, तब न जानें कौन अन्तर-आकाशविहारी, दीन-दुःखहारी को स्मरण करते ही जीव के सब क्लेश शान्त होने लगते हैं, और उसके हृदयमें निराशा से आशा की स्फूर्ति होने लगती है? यह प्रश्न अति गूढ़ है; जीव को यह गुप्त रहस्य भेदनकर कौन उत्तर देने में समर्थ है? आजकल के गृहस्थगणों से इस अन्तर्जगत के प्रश्न

का क्या उत्तर पूछें, वे जब बहिर्जगत् में सदाही मोहित होरहे हैं, तब अन्तर्जगत् के प्रश्न का कैसे उत्तर देंगे ! आज दिन माता पिता से भी इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर नहीं मिलसक्ता, क्योंकि वे आजदिन मोह आदि में बहुतही मोहित हो अपने कर्त्तव्य को भूलरहे हैं ! वर्त्तमान समय के आचार्य्यगणों से जिज्ञासा करने पर भी अपनी तृप्ति नहीं होगी, क्योंकि वे भी आजकल कामिनी, कांचन के मद में आय अपने आपे को बिसार रहे हैं। साधक ! तुम पर ही हमारी आशा है; इस अकुल–पाथार घोर–अंधकार रजनी में तुमही हमारे ध्रुव–तारा हो तुम से ही इस विपथ-गामी जीव का पता लगसक्ता है; बताओ ! कौंन वह अपना जन है ? कौंन वह मित्र है कि जिन को हम भूलने पर भी वे हम को नहीं बिसारते ? बोलो, जीव से उस अन्तर्यामी का क्या सम्बन्ध है, कि जब पिता, माता, भ्राता, पुत्र, मित्र, कलत्र, कोई भी काम नहीं आते तब वे ही जीव के एक-मात्र प्रियतम चुपके से आय उसे गोद में ले उस के आंसू पोंछ देते हैं ?

जीव प्रीति का भूखा है। जब उसकी प्रीति माता, पिता, और और गुरुजनों में होवे तो उसी प्रीति का नाम श्रद्धा है; जब उसकी प्रीति स्त्री वा मित्र आदिक में हो तब उस ही प्रीति का नाम प्रेम है; जब पुत्र कन्यादिक में हो अर्थात् वह श्रोत निम्नगामी हो तब उस का नाम स्नेह है; परंतु जीव जब इन सांसारिक सम्बन्धों को अनित्य अपने हृदय के प्रीतिप्रवाह को उस एकमात्र हृदयनाथ जगतकर्त्ता परमेश्वर की ओर फेरे तबही उस प्रीति का नाम भक्ति है। जीव की स्वतःही गति अपने हृदयनाथ की ओर होने पर भी वह उस सम्बन्ध को बिसार और और अनित्य

पदार्थों में सम्बन्ध स्थापन करलेता है; परन्तु अनित्य वस्तु की नित्यता कहां? जब उसकी आशा उन अनित्य पदार्थों से नहीं मिटती है, जब उसके चित्त पर आघात पर आघात लगते हैं, और विपत्ति में किसी को भी अपना हितकारी नहीं पाता, तब उस की पूर्वस्मृति जाग उठती है और वह कहने लगता है कि, हे हृदयनाथ! हे दीनबंधो! तुम कहां हो; हे जगत्पिता! सुना है तुम सर्व दुःख निवारण हो, तुमही दीन दुःखियों के परमसखा हो; अब यह त्रिताप तापित दीन हीन तुम्हें छोड़के कहां जाय; बहुत दिन बीते वह अपने हृदयनाथ को छोड़कर नाना विषयों में जहां तहां भटकता रहा, अब तो कृपाकर मति फेरो; हे नाथ! तुमने भी इस बिपथगामी की कुमति देख, परीक्षा के अर्थ इसे धन, जन, पुत्र, कलत्र आदि दे भुला रक्खा था, परन्तु हे प्रियतम! अब और परीक्षा न करो; टुक बांकी झांकी से महर कर इस ओर निहारो; 'सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्, सामुद्रोहि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः"; हे नाथ! भेद न होने पर भी मैं तो आपका ही हूं न कि आप मेरे, तरंग तो समुद्र के होते हैं परन्तु समुद्र तरंग का कभी नहीं हो सक्ता; प्रभो! मैं अब न तो पुत्र, धन, कलत्र, की इच्छा करता हूं, न स्वर्गादि सुख की वासना रखता हूं, अब तो यही प्रार्थना है कि ऐसा करो कि आप के चरण युगुलों में मेरी अचला भक्ति बनीरहे।

"अपराधसहस्रसंकुलम्पतितम्भीमभवार्णवोदरे।
अगतिंशरणागतंहरेकृपयाकेवलमात्मसात्कुरु॥
नास्थाधर्म्मेनवसुनिचयेनैवकामोपभोगे

यद्भाव्यंतद्भवतुभगवन्पूर्व्वकर्म्मानुरूपम्॥
एतत्प्रार्थ्यम्ममनवहुलंजन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहमुपगतानिश्चलाभक्तिरस्तु" ॥

भक्तिमार्ग के श्रेष्ठाचार्य्य महर्षि श्रीशांडिल्यजी ने कहा है कि, "सापरानुरक्तिरीश्वरे" और भक्ताग्रगण्य देवर्षि नारदजी ने कहा है कि "ओंसानकामयमानानिरोध रूपात्"अर्थात् ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण अनुराग का नाम भक्ति है, जब जीव का मन समस्त प्रपंच जगत् से हटकर केवल भगवान् में ही लग जाता है उस अवस्था का नाम भक्ति है; परन्तु यदि भक्ति किसी मनस्कामना पूर्त्ति के अर्थ हो तो वह भक्ति यथार्थ में भक्ति नहीं है;निष्काम भक्ति ही यथार्थ भक्ति है। जब नृसिंहअवतार में श्रीभगवान् प्रकट हो धर्म्म की रक्षा और अधर्म्म के नाश करने में प्रवृत्तहुए, और अपनी अद्भुत लीला दिखाय अधार्म्मिक हिरण्य-कश्यपु को मारडाला तब अपने भक्त प्रह्लाद पर प्रसन्न हो बोले कि, "वत्सबर! प्रार्थना करो" भक्ताग्रगण्य दैत्य-कुल तिलक प्रह्लादने श्रीभगवान् को प्रणाम कर, करजोड़ विनती की कि, "प्रभो! मैं तो कोई व्यापारी नहीं हूं जो बर मांगूँ मैं तो आप का भक्त हूं"। ऐसे ही अनन्य भक्ति को धारण कर पांडवगण भगवद्भक्त कहाये थे; जब महा-राजा युधिष्ठिर दुर्योधन द्वारा राज्य बहिष्कृत हो निःसहाय अवस्था में बन बन में विचरते फिरते थे; तब उनके क्लेश से क्लेशित हो उन की सहधर्म्मिणी रानी द्रोपदी एक दिन महाराजा से कहने लगी कि "हे नाथ! तुम भगवान् के ऐसे भक्त हो तिसपर भी तुम्हें इतना क्लेश सहना पड़रहा है,तुम क्यों नहीं उन से अपने दुःख निवारण के अर्थ प्रार्थना करते

हो!" परमभक्त धर्म्मराज महाराजा युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि "हे प्रिये, यह जो संसार का खेल है सब अपने ही कर्म्म वश है, इस में अधिक क्या सोचना; और मैं किसी स्वार्थ साधन की इच्छा से भगवान् से प्रीति नहीं करता, मेरे मन की गति स्वतः ही उन की ओर झुकती है इस कारण मैं उन की भक्ति करता हूं। देखो! सन्मुख कैसा सुन्दर प्रशान्त महान् हिमालय पर्वत खड़ा है; मेरे नयन इन से कुछ भी इच्छा नहीं रखते परंतु उन की सौन्दर्य्यता नयनों को अच्छी लगती है इस कारण ही वे मोहित हो उस को निहारा करते हैं"। भक्ति के लक्षण वर्णन करने में परम ज्ञानी महर्षि शांडिल्य का मत है कि, आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग का नाम भक्ति है, यथा "ॐ आत्मरत्यविरोधे नेति शाण्डिल्यः"; अर्थात् जब जगत् का भान जाता रहता है और साधक एकमात्र आत्मचैतन्य में ही सदा स्थिर रहकर परम आनन्द को भोग करता है उसी का नाम आत्मरति है, इसी आत्मरति को प्राप्तकर जब साधक अपने हृदयनाथ के साथ एकरूप होजाय उसी का नाम महर्षि शाण्डिल्य ने यथार्थ भक्ति कहा है; महर्षिजी के इस मत में और अद्वैतवाद की ब्रह्मसद्भाव अवस्था में कुछ भी भेद नहीं है। इस विषय में देवर्षि नारद का मत है कि, "ॐ नारदस्तुतदर्पिताऽखिलाचारतातद्विस्मरणेपरमव्याकुलनेति" अर्थात् जब भक्त का ऐसा स्वभाव हो जाय कि वह अपने सम्पूर्ण कर्म्मों को भगवान् में ही अर्पण किया करे और उन को कभी भी न भूला करे और यदि भूलजाय तो उसके चित्त में बड़ी ही बिकलता हुआ करे साधक की इस अवस्था को ही महर्षि नारद ने भक्ति कहा है। लौकिक और पारमार्थिक भेद से कर्म्म दो प्रकार का

होता है, जब साधक पुत्र, कलत्र पालनादि लौकिक कार्य्य अथवा यज्ञ, तपस्या, योगादि, पारमार्थिक कार्य्य कुछ ही करे परन्तु उसके चित्त की ऐसी एकाग्रता रहे कि जिससे उसके बिचार में यही जमारहे कि मैं यह सब श्रीभगवान् की पूजाही कर रहा हूं,–"प्रातरुत्थायसायाह्नं सायाह्नात् प्रातरंततः। यत्करोमिजगन्मातः तदेवतवपूजनम् ॥" हे जगन्माता ! प्रातःकाल उठकर सन्ध्यासमय पर्य्यन्त और सायंकाल से लेकर पुनः प्रातःकाल पर्य्यंत जो कुछ कार्य्य मैं करताहूं, हे जननी ! सब तुम्हारी ही पूजा है, जब ऐसा कहने की सामर्थ्य साधक को होजाती है तब ही वह साधक पूर्ण भक्त कहाता है। भक्तिमार्ग के क्या प्राचीन आचार्य्य पूज्यपाद महर्षि नारद,वेदव्यास,गर्ग, शाण्डिल्य आदि; और क्या आधुनिक आचार्य्य श्रीचैतन्यदेव और श्रीबल्लभाचार्य्य प्रभृतिगण सबही ने भक्तों के उदाहरण देते समय ब्रजगोपिका-गणों की बड़ीही प्रशंसा की है; यथा "ॐ यथाब्रजगोपिकानाम्।" श्रीबृन्दाबन–बिहारिणी गोपिकागणों ने भक्ति की पराकाष्ठा दिखाई है; वस्तुतः कृष्णप्रेम में मतवारी ब्रज-नारीगणों ने अपने सारे संसार के सुखों को तुच्छ करदिया था वैसा उदाहरण इस संसार में बहुत कम देखने में आता है; उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के प्रेम में विह्वल हो गृहऐश्वर्य्य, मानसम्भ्रम, कुललज्जा, लोकलज्जा, सबही गवाँय दिया था। इसी कारण श्रीभगवान् ने निजमुख से ही कहा है कि, "तामन्मनस्का मत्प्राणाः मदर्थेत्यक्तदेहिकाः। एत्यक्तलोकधर्म्माश्च मदर्थे तान्विभर्म्यहम् ॥ मयिताः प्रेयसां प्रेष्टे दूरस्ते गोकुलस्त्रियः। स्मरन्त्योंग विमुह्यन्ति विरहोत्कण्ठ्य विह्वलाः ॥ प्रधारयन्ति कृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन। प्रत्यागमन संदेशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥"

अर्थात् हे उद्धव ! गोपीगणों ने मुझ में ही मन समर्पण कर दिया है, मैं ही उनका प्राण हूं, मेरे लिये ही उन्हों ने अपने अपने दैहिक सब कार्य्यों को त्याग करदिया है; जिन्होंने मेरे लिये ही अपने २ लौकिक व्यवहार और धर्म्म के विधि निषेध को तुच्छ करदिया है उन गोपीगणों की मैं ही रक्षा करता हूं; गोपीगण मुझको ही प्रिय से भी अति प्रिय कर जानती हैं; मेरे उनसे दूर रहने पर वे मुझ को स्मरण करके दारुण विरहव्यथा से व्याकुल हो अपने आपे को भूल जाती हैं; मेरे बिना दर्शन के वे बड़े ही क्लेश से प्राण धारण करती हैं; श्रीवृन्दाबन में मेरे पुनरागमन रूप शुभसम्वाद की आशा में ही वे जीवित हैं। यदि कोई ऐसा समझे कि गोपीगणों का श्रीकृष्णचन्द्र में प्रेम, केवल मनुष्य रीति के स्त्री पुरुषों के प्रेम के नाईं था; क्योंकि भक्तिमार्ग के आचार्य्यों ने भक्तिसूत्र में लिखा है कि "ओं न तत्रापि माहात्म्य ज्ञान विस्मृत्यपवादः"। "ओंतद्विहीनं जाराणामिव" अर्थात् ईश्वर-माहात्म्यज्ञान से जो ईश्वर में प्रीति होती है उसी को भक्ति कहतेहैं और ईश्वर-माहात्म्यज्ञानके सिवाय जो साधारण प्रीति होती है उस को भक्ति नहीं कहते यथा जार अर्थात् व्यभिचारियों की प्रीति। भक्तिमार्ग के इस विचार से यही-सिद्धान्त होता है कि यदि गोपीगणों को ईश्वरमाहात्म्य ज्ञान न था और उन की भक्ति केवल नायक नायका की प्रीति के रूप से ही थी तो वे कैसे भक्त कहासक्ती हैं। परंतु शास्त्र न देखने से ही ऐसे प्रश्न उठसक्ते हैं; जब शास्त्रों में कृष्णप्रेममदोन्मत्तिनी गोपिकागणों को कहते हुए देखते हैं कि "अस्त्येवमे तदुपदेशपदेत्वयीशे प्रेष्टो भवस्त नुभृतां किल बन्धुरात्मा"। "व्यक्तंभवान् व्रजभयार्तिहरो भिजातो"। "नखलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामं-

तरात्मदृक्”। इत्यादि २; तब बुद्धिमानमात्र ही समझ सकेंगे कि व्रजनारीगणों ने व्रजगोपाल को ईश्वर अवतार समझ के ही उन के चरणों में अपने आपको समर्पण किया था। व्रजगोपिकागणों ने शास्त्र अध्ययन नहीं किये थे, न कृच्छ्र-साध्य तपस्याओं का साधन किया था, और न “तत्वमसि” आदि महावाक्यों का विचार किया था, परंतु केवल श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों में अनन्यभक्ति करके ही उस श्रेष्ठ गति को प्राप्त किया था कि जो बड़े २ योगीन्द्र और मुनीन्द्र गणों को भी दुर्लभ है ॥

ज्ञान और भक्ति के विचार करने में प्रायः विचारक गणों में बहुतही गड़बड़ देखने में आती है; ज्ञान के पक्ष-पाती गण यह कहते हैं कि, ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है, और ज्ञान के प्राप्त करने के लिये भक्ति का साधन कर्त्तव्य है; और भक्तिमार्ग के विचारकगण यह प्रमाण करने लगते हैं कि, ज्ञान की कुछ आवश्यकता नहीं है जो कुछ है सो भक्ति ही है; और कोई कोई साम्यवादी यह बिचारते हैं कि भक्ति और ज्ञान एक दूसरे से मिला हुआ है। परंतु भली भांति विचारने से यही सिद्धान्त होगा कि “ज्ञान” जानने को कहते हैं, जब कोई मनुष्य किसी और दूसरे मनुष्य के विषय में जान लेता है तबही उस से सम्बन्ध स्थापन कर सक्ता है; जब वेद और गुरु वाक्य द्वारा साधक को ईश्वर-संबंधीय ज्ञान होगा तबही वह ईश्वर में भक्ति स्थापन कर सकेगा। इस विचार के सिद्धान्त करने के अर्थ भक्ताग्रगण्य महर्षि शाण्डिल्यजी ने अपने भक्तिसूत्रों में कहा है कि, “ ज्ञानमितिचेन्नद्विषतोऽपिज्ञानस्य तदसंस्थितेः।” ; अर्थात् ईश्वरविषयक ज्ञान विशेष का नाम भक्ति नहीं है, क्योंकि द्वेषी पुरुष में भी ज्ञान होताहै; विचारिये कि, किसी मनुष्य

को अपने शत्रु का विशेष ज्ञान है, वह भली भांति जानता है कि, हमारे शत्रु की ऐसी मूर्ति है और उस में ऐसे गुण और यह अवगुण भरे हुए हैं; तो इस से क्या उसकी प्रीति शत्रु में हो जायगी? कभी नहीं। इस से यह सिद्ध हुआ कि, न तो भक्ति का फल ज्ञान है और न ज्ञान का फल भक्ति, परन्तु यह कह सक्ते हैं कि, ज्ञान भक्ति का सहायक है; अर्थात् ईश्वर संबंधीय ज्ञान से भक्त के हृदय में भक्ति की वृद्धि हो सक्ती है। पुनः महर्षिजी ने लिखा है कि, "तयोपक्षपाच्च"; अर्थात् संपूर्ण भक्ति का उदय होने से ज्ञान का संपूर्ण नाश होजाता है, भक्तिमार्ग के आचार्य्यगणों का यही अनुभव है कि, जब भक्त का ईश्वर में पूर्ण अनुराग (जिस को पराभक्ति कहते हैं) होजाता है तब उस के बीच में और उसके प्रियतम प्रभु के बीच में कोई पृथक् अस्थित्व नहीं रहता; तो जब कोई पृथक् अस्थित्व का भान नहीं रहा तब उस अवस्था में आपही ज्ञान का लोप हो जाता है। इस से यही सिद्धान्त होता है कि, भक्ति और ज्ञान एक दूसरे से मिला हुआ नहीं रहसक्ता। इस कारण ही महर्षिजी ने कहा है कि, "न क्रियाकृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत्"; अर्थात् जिसप्रकार अभ्यास करने से ज्ञान प्राप्त हो सक्ता है उसप्रकार भक्ति अभ्यस्त करलेने की वस्तु नहीं है; वेद-वाक्य और गुरुउपदेश द्वारा साधक विचार करते२ ईश्वर संबन्धीय ज्ञान को प्राप्त कर सक्ता है, परन्तु भक्ति का उदय तब ही कहा जासक्ता है जब साधक का मन उस अनिर्वचनीय रूप में मोहित होकर लय होजाय, और इस कारण ही भक्ति के आचार्य्यगणों ने कहा है कि, ज्ञान तो साधन का अंगस्वरूप है परंतु भक्ति को साधन का प्राणस्वरूप कह सक्ते हैं॥

अवस्थाभेद से भक्ति दो प्रकार की है; यथा गौणीभक्ति और पराभक्ति । जब कोई इच्छा करके ईश्वर में भक्ति कीजाय तब उसे गौणीभक्ति कहते हैं परंतु विना ही किसी कामना के जब स्वतःही साधक का मन भगवत्प्रेम में मग्न होजाता है तबही उसको पराभक्ति कहते हैं । श्रीभगवान् ने श्रीमद्भगवत्गीता में जो निज मुख से अर्थार्थी, जिज्ञासु, आर्त्त और ज्ञानी, यह चार प्रकार के भक्तों का वर्णन किया है; उनमें से तीन प्रकार की भक्ति को गौणीभक्ति और एक प्रकार की भक्ति को पराभक्ति कह सक्ते हैं । क्योंकि गौणीभक्ति जीव अवस्था का साधन है; इस कारण उस में सत्व, रज और तम के भेद से तीन अवस्था होना उचित है, इस विषय में भक्ताग्रगण्य महर्षि नारद ने कहा है कि, "ओं गौणी त्रिधा गुण भेदादार्त्तादिभेदाद्वा, "एवम् "ओं उत्तरस्मा दुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वाश्रेयायभवति " अर्थात् गुण भेद से आर्त्तादि तीन प्रकार की गौणीभक्ति होती है और पूर्वापर उन में छुटाई बड़ाई है । जब जीव विपत्ति से उद्धार होने के अर्थ भगवान् में भक्ति करता है तो उसका नाम आर्त्तभक्त है; जब भगवततत्व जानने के अर्थ जिज्ञासु ईश्वर, शास्त्र और गुरु में जो भक्ति करता है तब उसका नाम जिज्ञासुभक्त है; और जब किसी कामना के सिद्ध करने के अर्थ जब जीव की ईश्वर में भक्ति होती है तब उस भक्त को अर्थार्थीभक्त कहते हैं; प्रथम आर्त्तभक्त सात्विकी, द्वितीय जिज्ञासुभक्त राजसी, और तृतीय अर्थार्थी तामसी भक्त कहाते हैं; और गुण भेद से यह भक्त उत्तम, मध्यम, और अधम हैं । परन्तु चतुर्थ प्रकार का ज्ञानीभक्त ही पराभक्ति का अधिकारी है और उस ही ऐकान्तिकी अथवा पराभक्ति के समझाने के अर्थ ही श्रीमद्भगवत्गीता में " अन-

न्याश्चिन्तयन्तोमां"—"योमांपश्यतिसर्वत्र"—"तमेव शरणं गच्छ"—"सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजेत्" आदि वाक्यों का प्रयोग श्रीभगवान् ने किया है और महर्षि नारदजी ने भी कहा है कि "भक्ता ऐकान्तिनो मुख्याः" अर्थात् ऐकान्ती वा अनन्यभक्त ही सब से श्रेष्ठ है, जिस अधिकार के प्राप्त करते ही मनुष्य सिद्ध होजाता है, अमृत होजाता है और पूर्ण तृप्ति को लाभ करलेता है और उस अवस्था का उदय होते ही भक्त परमानन्दरूप होजाता है और उसे एकमात्र भगवान्–भान के सिवाय और कुछ भी अनुभव नहीं रहता।

भक्ति का रूप एक ही होने पर भी शास्त्रों में उस के आकार एकादश लिखे हैं यथा भक्ताग्रगण्य महर्षि नारदजी ने कहा है कि "ओं गुण माहात्म्यासक्ति १ रूपासक्ति २ पूजासक्ति ३ स्मरणासक्ति ४ दासासक्ति ५ सख्यासक्ति ६ कांतासक्ति ७ वात्सल्यासक्ति ८ आत्मनिवेदनासक्ति ९ तन्मयतासक्ति १० परमविरहासक्ति ११ "रूपाएकधाप्येकादशधा भवति"। इस संसार में जो जिससे प्रीति करता है उस को अपने प्रिय जन की सब चेष्टायें और सकल अंगही सुन्दरता युक्त दिखाई पड़ते हैं, परंतु न जाने जीव का कैसा स्वभाव है कि उसकी प्रिय वस्तु उसे पूर्ण रूपेण मोहित करने पर भी उस का मन उसके प्रियतम के विशेष २ अंग के सौन्दर्य्य–विशेष में और विशेष २ भाव की चेष्टा–विशेष में अधिक लगता है, और इस विचार से ही आचार्य्यगणों ने भगवद्भक्ति के एकादश रूप वर्णन किये हैं क्योंकि सब भक्तगण ही श्रीभगवान् में पूर्ण रूपेण आसक्त होने पर भी इस प्रकार की चित्त की वैषम्यता के कारण ही भगवान् के विशेष विशेष भावों में प्रायः विमोहित देख

पड़ते हैं। प्रथम गुण माहात्म्यासक्ति के उदाहरण पुराण शास्त्रों में बहुत ही पाये जाते हैं जिन में से देवर्षि नारद, वेदव्यास और राजा परीक्षित का उदाहरण सर्वश्रेष्ठ है। द्वितीय रूपासक्ति के उदाहरण में रानी यशोदा का श्रीभगवान् के बालरूप में और ब्रजगोपिकागणों का श्रीभगवान् के किशोररूप में प्रेम जगत्प्रसिद्ध है। तृतीय पूजासक्ति, श्रीमहाराजा पृथु के नाईं पूजासक्त भक्त कम ही हुए हैं। चतुर्थ स्मरणासक्ति का पूर्णप्रकाश दैत्यकुलतिलक अद्वितीय बालक-भक्त प्रह्लाद के चरित्रों में हुआ है। पंचम दास्यासक्ति, भक्त-श्रेष्ठ हनुमान् और विदुर आदि के दास भाव से ही पुराणों की सौन्दर्यता बढ़ी है; यदि दासभक्त हो तो इन की नाईं ही हो। षष्ठ सख्यासक्ति के उदाहरण प्राचीन इतिहासों में बहुत देखने में आते हैं; अर्जुन, सुग्रीव, उद्धव, कुबेर, और श्रीदाम, आदि सख्यासक्त भक्तों में प्रधान हैं। सप्तम कान्तासक्ति, ब्रजकामिनी गणों की कान्तासक्ति भक्तमात्र के ही हृदय में बिराजमान है। अष्टम वात्सल्यासक्ति के साधकगणों में से महर्षि कश्यप, नन्द, कौशिल्या, यशोदा, और दशरथ आदि प्रसिद्ध हैं। नवम निवेदनासक्ति के उदाहरण में राजा बलि ही प्रधान हैं। दशम तन्मयासक्ति, देवादिदेव महादेव अभेद-भाव से एक ही होने पर उन से अधिक और किस का उदाहरण मिल सक्ता है। और एकादशम विरहासक्ति भाव का प्रकाश श्रीकृष्णचन्द्र के वैकुण्ठ पधारने पर सखा उद्धव और सखी गोपिकागणों के तीव्र विरह से देदीप्यमान है॥

भक्तिमार्ग ही सकल मार्गों से सुगम है, भक्तिसाधन ही और साधनों की अपेक्षा सुलभहै, क्योंकि ईश्वरभक्ति के साधन में न तो विद्यासंग्रह की आवश्यकता है, न धन के व्यय का

प्रयोजन है, न आचार-विचार की मर्यादा है, न वर्णाश्रम की परिपाटी है न योगाभ्यास की कठिनता है, और न व्रत-तपस्या की कठोरता है, इसकारण ही आचार्यों ने "ओं अन्यस्मात्सौलभ्यं भक्तौ" ऐसा कह भक्तिमार्ग को ही सब मार्गों से सुलभ प्रतिपन्न किया है, यदि परमेश्वर की कृपा से साधक भक्ति का अधिकारी होजाय तो साधन के संपूर्ण वक्र मार्ग पड़े रहते हैं और वह सौभाग्यवान् साधक उन सभों को भेदन कर तुरत ही लक्षस्थल पर पहुंच जाता है। भक्ति कैसे उदय होती है इस का पता कोई भी नहीं लगा सक्ता, परंतु भक्तिमान् साधक इतना ही कहते हैं कि केवल भगवतकृपा से ही भक्ति की प्राप्ति होसक्ती है। जैसे प्रचंड प्रभाशाली मार्तंड अपनी ही किरणों की शक्ति द्वारा पृथिवी से जल अंश को बाष्प में परिणत कर आकाश में आकर्षण करके अपने आप को ढक पृथिवी को घोर अन्धकारमय कर देते हैं, पुनः अपनी ही तेज शक्ति द्वारा ऊष्णता की वृद्धि कर उन्हीं बाष्परूपी मेघों को वृष्टि-जल में परिणत करके अपने आप को तमभुक्त करते हुए पृथिवी को पूर्व्व रूप से प्रकाशित किया करते हैं, वैसे ही श्रीभगवान् अपनी अलौकिक क्रिया द्वारा जीव को माया में मोहित कर नाना खेल खिलाते हैं, पुनः जीव पर कृपा वश हो भक्ति-वारि सिंचन द्वारा उसे पवित्र कर अपनी गोद में उठा अपने में मिला लेते हैं। ईश्वरकृपा ही भक्ति के उदय होने का एकमात्र कारण है । महर्षि नारदजी ने कहा है कि "ओं मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवतकृपा लेशाद्वा," अर्थात् भक्ति के उदय होने के दो मुख्य कारण हैं, प्रथम महात्मागणों की कृपा और द्वितीय भगवान् की कृपा; परन्तु यह दोनों एक ही पदार्थ हैं क्योंकि भगवत्-

कृपा बिना साधु की कृपा नहीं प्राप्त होती; और न साधुओं की शुभ दृष्टि बिना भगवत्-दर्शन प्राप्त होसक्ता है। श्रीभगवान् ने अपने श्रीमुख से ही आज्ञा की है कि साधु मेरा ही रूप है। महात्मा जड़भरतजी ने राजा रहूगण को उपदेश दिया था कि, "रहूगणैतत्तपसानयाति न चेज्य यानिर्वपनाद्गृहाद्वा। नछन्दसा नैव जलाग्निसूर्य्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकात्" अर्थात् हे रहूगण! भक्ति की सिद्धि न तपस्या द्वारा, न यज्ञ यागादि कर्म्मद्वारा; न गृह छोड़ त्याग-वृत्ति अवलम्बन द्वारा, न वेदान्तपठन द्वारा, न स्नान सन्ध्या तर्पणादि जलदान अग्निहोत्रादि द्वारा और न सूर्य्योपस्थान अथवा ग्रीष्मोपताप सेवन द्वारा प्राप्त होती है; परंतु वह केवल महात्मागणों की पद-धूलि ग्रहण द्वारा ही प्राप्त हुआ करती है। इसी विचार के पुष्ट करने के अर्थ श्रीभगवान् ने निज मुख से भी परम भक्त अक्रूरजी से आज्ञा की थी कि "नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामया ते पुनंत्युरुकालेन दर्शनादेवसाधवः" अर्थात् हे अक्रूर! गंगा आदि तीर्थ, शिलामय और मृन्मय देवता जिन लोगों को पवित्र नहीं करते अथवा बहुकाल-विलम्ब में पवित्र किया करते हैं, वे लोग साधुगणों के दर्शनमात्र ही से पवित्र हो जाते हैं, बाह्य चेष्टा अथवा यत्न द्वारा भगवतभक्ति लाभ नहीं होती परंतु साधुगणों का अनुग्रह प्राप्त होते ही साधक पर भगवान् की कृपादृष्टि हो जाती है, और तबही उस के हृदय में भक्ति का उदय होता है। भक्तों ने कहा है कि साधु संग दुर्लभ, अगम्य, और अमोघ है। साधु संग दुर्लभ इसकारण से है कि यदि साधु से साक्षात् भी होजाय तो भी अपने मन की मलीनता के कारण संसारी जन साधु को असाधु ही करके समझेंगे, इसीकारण

बिना शुभ अदृष्ट के साधुसंग दुर्लभ है। महत्संग इस कारण अगम्य है कि, यदि साधु को साधु करके भी पहिंचान लिया जाय परंतु उन की साधन सिद्ध अवस्था में प्रवेश करना अतिशय कठिन है, अर्थात् साधु का भाव बहुत ही अगम्य है। और महात्माओं का समागम अमोघ इस कारण है कि दर्शक, साधु को पहिंचाने अथवा न पहिंचाने परंतु उस को अपने अधिकार के अनुसार उस महत्संग का फल अवश्य होता है। साधुगण सत्वगुणावलम्बी होते हैं किन्तु गृहस्थगण रजमिश्रित–सत्वगुणावलम्बी अथवा राजसिक वा तामसिक होते हैं किन्तु प्रधानता के कारण सत्वगुण के सन्मुख और गुणसमूह स्वतः ही दब जाते हैं, इसकारण साधुसंग द्वारा निम्नगुणावलम्बी गृहस्थगणों का कुछ न कुछ अवश्य ही उपकार हुआकरता है; साधु संग अमोघ है इस में सन्देह नहीं। श्रीभगवान् जी ने निज मुखसे भी कहा है कि " नाहंतिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये नच। मद्भक्तायत्रगायंति तत्र तिष्ठामि नारद "। अर्थात् हे नारद ! न मैं वैकुण्ठ में रहता हूं और न मैं योगीगणों के हृदय में वास करता हूं, मेरे भक्तगण जहां मेरे गुणगान किया करते हैं मेरा सदा वहीं निवास जानना; जब भक्तगण में ही श्रीभगवान् का निवास है तब भक्त ही को भगवत्रूप समझना चाहिये, जैसे भगवत् महिमा अपार है वैसे ही साधू की भी महिमा अपार है।

भगवद्भक्ति दुर्लभ है इस में सन्देह नहीं, श्रीभगवान् कृपा तथा साधुकृपा से ही भगवत्भक्ति का उदय हो सकता है। भगवत्भक्ति अभाव से परम ज्ञानी मनुष्य-गण भी ईश्वरशक्ति में सन्देह करने लगते हैं अभ्रान्त सत्य होनेपर भी भगवत्भक्तिहीन बुद्धिमानगण सर्व

शक्तिमान् ईश्वर की मूर्ति तथा अवतार आदि लीला में सन्देह करने लगते हैं । हे भगवत्भक्तिहीन बुद्धिमान गण ! जिन सर्वशक्तिमान् त्रिलोककर्त्ता जगत्पिता के इङ्गित मात्र से ही यह अनन्त ब्रह्माण्ड-समूह उत्पन्न हुए हैं, जिन पूर्णशक्तिधारी जीवत्रितापहारी श्रीभगवान् के अवलोकन मात्र से अनन्त जीव-समूहों की रक्षा तथा पालन हो रहा है क्या वे सर्वशक्तिमान् अपने भक्त की इच्छा पूर्ति तथा कल्याणार्थ शरीर धारण करने में असमर्थ हो सकते हैं । यदिच उन निर्विकल्प, शाश्वत सत्-चित्-आनन्दमय परमात्मा का यथार्थ में कोई रूप नहीं होसक्ता तत्रच अपने भक्तगणों के कल्याणार्थ आवश्यकता होनेपर क्या वे शरीर धारण नहीं कर सक्ते ? इसकारण हे श्रीमान् गण ! इस प्रकार का भ्रमपूर्ण जीव-अहितकारी ईश्वर-महिमा-ज्ञानहीन का सा सन्देह अपने अंतःकरण से दूर करो और भगवत् अतुलनीय शक्ति पर पूर्णविश्वास करके परम कल्याण को प्राप्त होओ इस संसार में दो अवस्था ही दृष्टिगोचर हुआ करती हैं, एक जड़ दूसरी चेतन, एक अज्ञानपूर्ण और दूसरी ज्ञान पूर्ण; अज्ञानपूर्ण अवस्था द्वारा सृष्टि का विस्तार और ज्ञानपूर्ण अवस्था द्वारा सृष्टि का नाश तथा परमानन्द की प्राप्ति हुआ करती है । जब जड़मय, सृष्टि विस्तार-कारी अज्ञान-अवस्था का पूर्ण विस्तार होजाता है तभी सृष्टिनियम के अनुसार चेतनमय सृष्टि-लयकारी ज्ञान-पूर्ण अवस्था का पुनः प्रकाश होना सम्भव है । जीव के अन्तःकरण में भी यह भाव सदा देखने में आता है क्यों-कि जीव जब अपनी अज्ञानता से मोहित होकर महा पाप-कर्म्म में प्रवृत्त होता है तब उस के अन्तःकरण में बुद्धि

रूप से जो पापनाशक तथा मोहनाशकारक भाव का उदय होता है वह इसी परिवर्त्तन-नियम के आधीन है; जब एक वार जड़त्व की पूर्णता होगी तब अवश्य वह जड़ता चैतन्य की ओर लौटेगी । इसी अभ्रान्त सृष्टि-नियम के अनुसार प्रस्तर आदि के रूप से जीव उन्नत होता हुआ क्रमशः जीव की उन्नतभूमि मनुष्ययोनि को प्राप्त हो जाता है । इस सृष्टिकौशल पर दृष्टिनिक्षेप करने से, इस ईश्वरीय नियम पर ध्यान देने से यह मानना ही पड़ेगा कि जब पृथ्वी पर अज्ञानरूप पाप का पूर्ण विस्तार हो जाता है तब पूर्णज्ञानमय अवतारमूर्त्ति का भी प्रयोजन होवेगा इस में सन्देह ही क्या। सब सन्देह छोड़कर पूर्ण-शक्तिधारी भगवान् की शक्ति की पूर्णता पर विश्वास करना ही बुद्धिमानजनगणों को उचित है; इसप्रकार पूर्णज्ञान तथा पूर्णशक्तियुक्त श्रीभगवान् का ध्यान करता हुआ साधक क्रमशः उन्हीं के रूप को प्राप्त हो जाता है। कंचुकी भृङ्ग जब तैलपाई कीट को पकड़ लेता है तब कुछ काल में वह तैलपाई कीट उस कंचुकीभृङ्ग का ध्यान एकाग्रबुद्धि होकर करता करता अन्त में कंचुकी भृङ्ग ही बन जाता है; इस नियम के अनुसार जब एकाग्रता से वहिर्जगत् में ऐसा परिवर्त्तन दिखाई देने लगता है तो इस एकाग्रता का फल अन्तर्जगत् में होना क्योंकर असम्भव है। गौणीभक्ति से ही पराभक्ति लाभ होती है; भगवन्नाम जप करते करते, भगवत् के किसी रूप का ध्यान करते २, और भगवत् गुणगान करते २ गौणीभक्ति के अधिकारी साधक पराभक्ति को लाभकर शीघ्र ही भगवत् में लय हो जाते हैं। जब भक्त त्रिताप से तापित हो अतिदुःख पाय आंसू बहाय गाने लगता है कि,-

गीत--"करधर, करधर अरी अम्मारी ॥ १ ॥
चलत चलत कित दिन बीतो,
(बिछड़ि चलत कित दिन बीतो)
दया तोहिं नहिं आवत (देख!) अरी बौरी ॥ २ ॥
पगहिं चलत घनो दुख पाऊं,
तबही अम्मा अम्मा कह कह पुकारूं,
नजानूं काहेरी तू एक सुनत नहिं मोरी ॥ ३ ॥
कुपुत्र बहुत जानी,
कुमाता कबहुँ न सुनी,
न जानी काहे जननी,
तू मोसों इतरातरी ॥ ४ ॥"

जैसे अनेक पुत्रवती गृहस्थपत्नि अपने कई एक संतानों में से किसी को झुंझुना, किसी को कोई और खिलौना और किसी को खाने की वस्तु आदि से संतुष्टकर भुलाय अपनेआप निश्चिन्त हो गृह के कार्य्य करती रहती हैं, परंतु उन बालकों में से जो अपने खेलने की बस्तु अथवा खाने की वस्तु को फेंककर "अम्मा, अम्मा!" कह रोने लगता है, वह स्नेहमयी जननी उसी पुत्र पर स्नेह कर उस को गोद में लेलेती है, वैसे ही जब त्रितापतापित जीव अपने भुलाने के विषयों को त्याग जगन्माता को स्मरणकर अश्रुधारा बहाने लगता है तब अवश्य ही वह करुणामयी करुणा करके उसे गोद में लेलेती है। "ओं त्रिसत्यस्यभक्तिरेवगरीयसी भक्तिरेवगरीयसी"। अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान में सदा विद्यमान् सत्यस्वरूप श्रीभगवान् की भक्ति ही सब से श्रेष्ठ है; इसीकारण त्रिकालदर्शी परमभक्त महर्षि नारद आदियों ने उच्चैःस्वर से ऊर्द्धबाहु होकर कहा है कि, भक्ति ही सब से श्रेष्ठ है! भक्ति ही सब से श्रेष्ठ है!! भक्ति ही सब से श्रेष्ठ है!!!

ॐ सदाशिवायनमः ।

पूज्यपाद महर्षि शाण्डिल्यकृत–

भक्तिदर्शन

एवम्

"निगमागमी" भक्तिदर्शनभाष्यम् ।

प्रथम अध्यायः ।

प्रथमाह्निकः ।

ॐ अथातोभक्तिजिज्ञासा ॥ १ ॥

ॐकार उच्चारण करके भक्तिमार्ग का विचार किया जाताहै ॥ १ ॥

परमज्ञानी और भक्ताग्रगण्य महर्षि शाण्डिल्यजी प्रथम कर्म्मकांड की पुनः ज्ञानकांड की भलीभांति व्याख्या करके तत्पश्चात् अब भक्तिकांड का वर्णन करने में प्रवृत्त होते हैं। बिना कर्म्म किये ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, और ज्ञान ही भक्ति का प्रधान सहायक है; इसकारण त्रिकालदर्शी महर्षि ने प्रथम उन दोनों मार्गों का वर्णन कर अब इस सूत्र द्वारा जीव--हितकारी भक्तिमार्ग के वर्णन करने की सूचना की है। वेद ने प्रणव को ईश्वर का वाचक कहा है इसकारण महर्षि

सूत्रकार वाचक द्वारा वाच्य को स्मरण करके उनकी भक्ति बर्णन में प्रवृत्त होते हैं ॥

सापरानुरक्तिरीश्वरे ॥ २ ॥

ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण अनुराग का नाम भक्ति है ॥ २ ॥

जब समस्त प्रपंच विषयों से मन हटके एकमात्र ईश्वर में ही लगजाताहै और जब साधक को केवल भगवत् चिन्तन के और कुछ भी नहीं भाता, ईश्वर में उसी अनन्य प्रेम का नाम भक्ति है । भक्ति शब्द भी अनुराग बाचक है; जिस प्रकार पिता माता आदि गुरुजनों में अनुराग को श्रद्धा, बन्धु और स्त्रीमें अनुराग को प्रेम, और पुत्र, कन्या आदि में अनुराग को स्नेह कहते हैं; उसी प्रकार जगत्कर्त्ता त्रितापहर्त्ता भक्तमनरंजन श्रीभगवान् में अनुराग को भक्ति कहते हैं । यदिच भक्ति शब्द केवल ईश्वर अनुराग का ही वाचक है, तत्राच सूत्रकार महर्षि के इस सूत्र से यही तात्पर्य्य है कि ईश्वर में अनन्य प्रेम अर्थात् ऐकान्तकी अनुराग को ही भक्ति कहते हैं । जब भक्तिमान् साधक ईश्वर में अनुराग स्थापन करता हुआ ऐसी उन्नत अवस्था को पहुँच जाय कि उसको ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं भावे, वह प्रेमासक्त होकर समस्त जगत् में भगवत् रूप निहारता हुआ और उनके सर्वशक्तिमय गुणातीत गुणों को स्मरण करता हुआ उन्ही के अतुलनीय प्रेम में सदा मग्न रहता हो तब ही उस साधक की वह उन्नत-अवस्था भक्ति कहावेगी। इस सूत्र से तात्पर्य्य यही है कि केवल ईश्वर को जान लेना अथवा ईश्वर को कभी कभी स्मरण करने को ईश्वर-भक्ति नहीं कहते; परन्तु जब साधक को सिवाय ईश्वर के और दूसरा भान ही न रहे और उसको यह समस्त प्रपंच जगत् ईश्वर-

मय ही प्रतीतहो, जब वह ईश्वर-प्रेमासक्त होकर जागते सोते, उठते बैठते, चलते फिरते सब समय ही भगवत्-प्रेम में मग्न रहा करे तबही साधक की उस ऐकान्तकी-वृत्ति को भक्ति कहेंगे ॥

तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात् ॥ ३ ॥

ऐसा कहा है कि, उनमें चित्त लगजाने से जीव अमृतत्व को प्राप्त होजाताहै ॥ ३ ॥

महात्मागणों ने ऐसा कहा है कि सत् चित् आनन्द रूप श्रीभगवान् अमृत स्वरूप हैं और भगवत्-भक्ति भी अमृत-मयी ही है; जब साधक भक्ति युक्त होकर अपने हृदयनाथ में मिलजाता है तब वह भी अमृत स्वरूप होजाता है। जीव की जब तक बहिर्दृष्टि रहती है तब तक वह नाना बिषयों में फँसता हुआ नाना संस्कारों के साथ नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है और यह जीव की बहिर्दृष्टि ही उसके जन्म मृत्यु संयोग बियोग आदि त्रितापका कारण है। नाना रूप धारिणी माया परिवर्तन शील है, परन्तु सच्चिदानन्द रूप श्रीभगवान् स्वयं प्रकाश, स्वयं आनन्द और भूत, भविष्यत, बर्तमान काल में सदा ही एक रूप हैं; जब तक जीव माया की लीला भूमि संसार में फँसा रहता है तब तक वह नाना दुःख भोगता हुआ जन्म मृत्यु रूप पथमें भटकता रहता है, परन्तु जब भगवत्-कृपा से उसका हृदय भगवत्-भक्ति युक्त होने पर उसके मन की गति संसार से फिर कर श्रीभगवान् की ओर लौट जाती है, तबही वह माया के फन्दे से बच मुक्त हो अमृत रूप होजाता है। अहंकार से जीव विषयों में अंगत्व स्थापन करता हुआ संसार में फँसा रहता है, परन्तु जब परा-वैराग्य द्वारा जीवका वह बंधन शिथिल होकर जीव का

मुख संसारकी ओर से फिर जाता है तबही वह बंधन मुक्त होसकता है। सार्वभौम-मत-युक्त योगदर्शन-प्रणेता महर्षि पतञ्जलिजी ने योगदर्शन में "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" सूत्र द्वारा यह भली भांति सिद्ध कर दिखाया है कि ईश्वर-भक्ति से तत्काल ही जीव की मुक्ति होजाती है। यहां अमृत शब्द मुक्ति वाचक है; अर्थात् अमर होने पर जैसे पुनर्मृत्यु नहीं होती उसी प्रकार जीव मुक्त होने पर भी जन्म मृत्यु रूप बंधन से छूट जाता है। साधक के हृदय में भक्ति का पूर्ण विकाश होने पर वह ईश्वर को ही प्राणाधिक प्रियतम मान उन्हीं के प्रेम में मग्न हो अपना सब कुछ अहंकार सम्बन्धीय पुरुषार्थ त्याग देता है; और यह मानलेता है कि जो कुछ हैं सो भगवानही हैं, जो कुछ करते हैं सो वेही करते हैं। इस प्रकार जीव अनन्य भक्ति के उदय होने पर जब अपने आपे को भूल जाता है तब उसके हृदय का अहंतत्व भी दूर होजाता है; और अहंतत्व ही जीव के बंधन का कारण है, इस कारण अहंतत्व के नाश से जीव स्वतः ही मुक्त होजाता है। भक्ति की उन्नति के साथ ही साथ, संसार सम्बन्ध अर्थात् विषयानुराग शिथिल होता जाता है, क्योंकि भक्त तो तब ईश्वर-प्रेम के कारण सिवाय ईश्वर के और किसी में मन निवेश ही नहीं करता; और विषय की ओर से मुख फेरना ही परा-वैराग्य है; इस कारण भक्ति के प्रभाव से परा-वैराग्य के उदय होने पर स्वतःही अहंतत्व के नाश के साथ संसार सम्बन्ध का नाश होकर जीव मुक्ति-पद का अधिकारी होजाता है इस सूत्र का यही तात्पर्य्य है कि भक्ति द्वारा जब जीव का चित्त समुद्र में वारि-विन्दु की नाईं ईश्वर में मिल जाता है तबही वह त्रिताप-तापित-जीव त्रिताप से त्राण हो अमृतपद को प्राप्त करलेता है; भक्ति ही मुक्तिपद

प्राप्ति का साक्षात् कारण है; भक्ति ही अमृत रूप अर्थात् मुक्ति रूप है ॥

ज्ञानमितिचेन्नद्विषतोऽपिज्ञानस्यतदसंस्थितेः ॥ ४ ॥

ईश्वर सम्बन्धीय ज्ञान विशेष का नाम भक्ति नहीं है; द्वेषी पुरुष को भी ज्ञान होता है परन्तु उसमें प्रीति नहीं होती ॥ ४ ॥

अब जिज्ञासुगणों के हृदय में यदि यह सन्देह हो कि जब शास्त्रों में ऐसा भी वाक्य देखते हैं कि "ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है" तब क्या भक्ति और ज्ञान एक पदार्थ है? यदि नहीं है तो इन दोनों में से किसको मुक्ति का साक्षात् कारण मानेंगे? इत्यादि शंकाओं के दूर करने के अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि ईश्वर सम्बन्धीय ज्ञान बिशेष का नाम भक्ति नहीं है, क्योंकि द्वेषी पुरुष में भी ज्ञान होता है परन्तु द्वेषी पुरुष में प्रीति नहीं होती। किसी मनुष्य को अपने शत्रु का विशेष ज्ञान है, वह भली भांति जानता है कि मेरे शत्रु में ऐसे गुण और अमुक दोष हैं और उसका ऐसा स्वरूप है, तो क्या इस जानने से उसकी प्रीति शत्रु में होजायगी? इस प्रकार यदि ज्ञानवान् पंडित शास्त्र-द्वारा जान जाय कि ईश्वर सर्व्व शक्तिमान्, सत्–चित्–आनन्द रूप और सर्वव्यापक आदि गुणोंसे युक्त हैं, तो क्या उन पंडित महाशय की ऐसे ज्ञान से भगवत् में प्रीति होजायगी। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर–ज्ञान और ईश्वर–भक्ति एक पदार्थ नहीं है; भक्ति, ज्ञान–भूमि से बहुतही उच्चतर भूमि का पदार्थ है। पूर्व्व सूत्रोंमें जब यह सिद्ध हो चुका है कि ईश्वर–तद्गत–अवस्था को ही भक्ति कहते हैं और भक्ति से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है, और पुनराय अब

यह सिद्ध हुआ कि भक्ति ज्ञानभूमि से उन्नत भूमि का पदार्थ है तो यह मानना ही पड़ेगा कि मुक्तिपद से भक्ति का ही साक्षात् सम्बन्ध है । ईश्वर-ज्ञान से ईश्वर में भक्ति वृद्धि होने की सहायता हुआ करती है; क्योंकि संसार में ऐसा देखने में आता है कि प्रथम पदार्थ विशेष का ज्ञान होता है और पीछे उसमें प्रीति जमती है; और यह भी देखने में आता है कि जितना ज्ञान प्रियवस्तु का अधिक होता जाता है उतनी ही प्रीति की दृढ़ता होतीजाती है; इस कारण यह मान सकते हैं कि ज्ञान मुक्ति का परंपराय कारण है परन्तु साक्षात् कारण नहीं होसकता । एकमात्र भक्ति को ही मुक्ति का साक्षात् कारण कह सकते हैं ॥

इस प्रकार के मत भेदों को सुनकर जिज्ञासुगणों के हृदय में नाना सन्देह उठ सकते हैं; क्योंकि जब वे देखते हैं कि मीमांसादर्शन कर्म्म को ही मुक्ति का कारण सिद्ध करता है, पुनः जब वे देखते हैं कि सांख्यदर्शन उसका खंडन कर रहा है; तद्पश्चात् वे देखते हैं कि वेदान्तदर्शन ज्ञान को ही मुक्ति का साक्षात् कारण प्रमाणित करता है, पुनः देख रहे हैं कि भक्तिदर्शन उस मत का खंडन कर रहा है; तो स्वतः ही वे विचलित होंगे । परन्तु यथार्थ में नाना महर्षियों के इन नाना सिद्धान्तों में कोई भी भेद नहीं है; जो कुछ भेद है वह साधक के अधिकार का है; जो कुछ भेद है वह अधिकार भूमि का है, इनमें जो कुछ भेद है वह परंपराय कारण का है, किन्तु मूल लक्ष में कोई भी भेद नहीं । जो दार्शनिक निष्काम-कर्म्म से मुक्ति होना स्वीकार करते हैं वे ऐसा सिद्ध करते हैं कि निष्काम-कर्म्म के साधन में जीव के बन्धन रज्जु अहंकार के नाश होजाने से वे पुनराय बन्धन प्राप्त नहीं होते और क्रमशः प्रारब्ध भोगते हुए मुक्तिपद को

पहुंच जाते हैं उसी प्रकार जो दार्शनिक ज्ञान को मुक्ति का कारण मानते हैं वे ऐसा प्रमाणित करते हैं कि अविद्या अज्ञान ही जीव के बन्धन का कारण है प्रकाशमय ज्ञान के उदय से तमोमय अविद्या अर्थात् अज्ञान नहीं रहेगा तब आपही जीव मुक्त हो जायगा। और इसी रीति पर यह दर्शन शास्त्र कह रहा है कि ईश्वर तद्गत भाव ही भक्ति है; ज्ञान अवस्था में यह ईश्वर यह अनीश्वर ऐसा भेद रहता है परन्तु भक्ति रूप तद्गत भाव में वह बिचार नहीं रहता इस कारण भक्ति ही मुक्तिपद से साक्षात् सम्बन्ध रखती है इस शरीर में शरीर-पोषणकारी-यन्त्रों का बिचार करते समय जैसे कोई भावुक तो यह कहता हो कि रक्त प्रस्तुत-कारी हृदययन्त्र ही शरीर का प्रधान रक्षक है, कोई भावुक यह कहे कि नहीं भुक्त-अन्न परिपाककारी पाकस्थली-यन्त्र ही शरीर का प्रधान रक्षक है, और कोई भावुक यह कहते हों कि नहीं प्रथम सहायक मुख ही शरीर का प्रधान रक्षक है; जैसे यह तीनों भावुक यथार्थ ही कहते हैं परन्तु तीनों में ही बिचार भूमि का भेद है; वैसेही यह तीनों दार्शनिक यथावत् ही कहते हैं परन्तु बिचार भूमि के भेद होने के कारण मतभेद प्रतीत होता है। जैसे शरीर रक्षा विषय में शरीर रक्षक अन्न इन तीनों यन्त्रों में होकर ही शरीर की रक्षा करता है परन्तु भूमि तीनों की परंपराय सम्बन्ध से पृथक् २ हैं; वैसेही मुक्त आत्मा पुरुष मुक्तिपद में पहुंचते समय इन तीनों अवस्थाओं में होकर तब उस पद में पहुंचेगा इसमें कोई भी सन्देह नहीं, परन्तु परंपराय सम्बन्ध से तीनों अवस्थाओंमें भूमि भेद होनेसे वे परस्पर बिरोधी प्रतीत होती हैं।जैसे भुक्त अन्न प्रथम मुख द्वारा पाकस्थली,पाकस्थली द्वारा हृदियन्त्र और पुनः हृदय से समस्त शरीर में रक्त रूपेण

परिणत होकर शरीर की रक्षा करता है; वैसेही मुक्तिपद-गामी पुरुष प्रथम निष्कामी होकर अहंकार का नाश करता हुआ बुद्धि राज्यमें पहुँच जाता है, वहां निरहंकृत पुरुष स्वतः ही शुद्ध-बुद्धि-युक्त होकर आत्म-साक्षात्कार करने लगता है, और तद्पश्चात् आत्म-साक्षात् अर्थात् भगवत्-दर्शन करते करते पराभक्ति द्वारा भगवत्-तद्गत-भाव को धारण करके मुक्तिपद का अधिकारी होजाता है। तीनों अवस्थाओं में लक्ष्य एक होने पर भी, तीनों अवस्थाओं की गति एक होने पर भी तीनों भूमियों की पृथक्ता है; इसमें कोई भी सन्देह नहीं परन्तु उसके साथही साथ यह भी निश्चय है कि इन तीनों अवस्थाओं का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि जो पुरुष इन तीनों अवस्थाओं में से किसी में पहुँच जायगा वह इन तीनों से पार होकर मुक्तिपद का अधिकारी होजायगा; चाहे साधक निष्काम-कर्म्म द्वारा अहंकार को दूर करले तो भी वह ज्ञान और भक्ति भूमि में पहुँचकर मुक्त होजायगा, चाहे ज्ञानभूमि में पहुंचजाय तो भी अहंकार का नाश और भगवत्-प्रेम प्राप्त होता हुआ मुक्तिपद का अधिकारी होजायगा, अथवा चाहे भगवत्-कृपा से एक बार ही भक्ति-भूमि का अधिकारी होजाय तो स्वतः ही कर्म्म-भूमि और ज्ञान-भूमि को अधिकृत करके भगवत्-तद्गत-भाव को प्राप्त करता हुआ मुक्त होजायगा। इस विचार को और रीति पर भी समझ सकते हैं कि निष्काम-अवस्था अहंतत्व-भूमि का भाव है, ज्ञान-अवस्था प्रकाशमय महत्तत्व-भूमि का भाव है, और पराभक्ति महत्तत्व की शेष अवस्था भगवत्रूपमय परमानन्द की चरम सीमा है॥

तयोपक्षयाच्च ॥ ५ ॥

क्योंकि पूर्ण रूपसे भक्ति का उदय होते ही ज्ञान का नाश होजाता है ॥५॥

प्रेममय भगवान् में जब भक्त का अनुराग दृढ़ होजाता है तब वह भक्त अपने आपे को भूल जाता है; पराभक्ति के लक्षण में भक्तिशास्त्र के आचार्य्यगणों ने यही सिद्धान्त किया है कि जब साधक में ऐसा अनन्य प्रेम का उदय हो कि इस चराचर ब्रह्माण्ड में उसको अपने हृदयनाथ के सिवाय और कुछ भी न दिखाई दे, वह जो देखे सो सबही ईश्वरमय देखे, जो सुने सो सबही ईश्वरमय सुने, और जो मनन करे सो सबभी ईश्वरमय ही करे, तबही जानना उचित है कि भक्त में यथार्थ पराभक्ति का उदय हुआ है । ज्ञाता को जब तक ज्ञाता और ज्ञेय दोनों का अनुभव रहता है तबही तक मध्यवर्ती ज्ञान की भी स्थिति है, परन्तु जब प्रेम इतना बढ़जाय कि ज्ञाता और ज्ञेय की स्वतंत्रता का नाश होकर एकही रूप होजाय तब वह मध्यवर्ती ज्ञान कहां रह सकता है । सब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय मिलकर तीनों में एक अवस्था होजाती है । इस सूत्र से पूर्व सूत्र की और दृढ़ता स्थापन हुई, और यह भी प्रमाण हुआ कि यथार्थ भक्ति के उदय होते ही ज्ञान का नाश होजाता है और तब भक्त भगवत्–प्रेम में लय होजाता है ॥

द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्चरागः ॥ ६ ॥

द्वेष का प्रतिकूल और रस शब्द का प्रतिपादक होने के कारण भक्ति का नाम ही अनुराग है ॥ ६ ॥

जिस मनुष्य में वा जिस विषय में द्वेष होता है वहां प्रीति की गति नहीं हो सकती, इस कारण द्वेष और प्रीति

(अर्थात् अनुराग) में परस्पर विरुद्धता है। इसी रीति के अनुसार भक्ति द्वेष से प्रतिकूल और अनुराग के अनुकूल होने के कारण भक्ति का नाम भी अनुराग है। इस सूत्र का यह भी तात्पर्य्य है कि द्वेषी पुरुष भी जिस रसहीन ज्ञान के अधिकारी हो सकते हैं उस शुष्क ज्ञान के बीच भक्ति का सरस मधुर प्रकाश कैसे हो सकता है। भक्ति एक स्वतंत्र अद्भुत और अति मधुर पदार्थ है।

नक्रियाकृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत् ॥ ७ ॥

वह ज्ञान की नाईं अनुष्ठानकर्ता के आधीन नहीं है ॥ ७ ॥

पूर्व सूत्रों में महर्षि सूत्रकारजी ने भक्ति का यथावत् स्वरूप दिखायकर अब भक्ति प्राप्ति करने की विलक्षणता दिखा रहे हैं। और कह रहे हैं कि जिस प्रकार ज्ञान अनुष्ठानकर्ता के आधीन है भक्ति का उदय होना वैसा नहीं है। क्योंकि गुरु उपदेश द्वारा विचार पथ में अग्रसर होता हुआ अथवा गुरु उपदिष्ट क्रिया द्वारा पुरुषार्थ करते करते, अथवा वेद विहित कर्म्म साधन करते करते जिस प्रकार साधकगण ज्ञान के अधिकारी होसकते हैं; उस प्रकार केवल पुरुषार्थ द्वारा भक्ति की प्राप्ति नहीं होसकती। साधक चाहे कैसाही अधिकारी हो परन्तु यदि वह परिश्रमी और गुरु तथा वेद वाक्य का विश्वासी हो तो शनैः शनैः परिश्रम द्वारा वह ज्ञान लाभ कर सकता है; परन्तु इस प्रकार के कोई भी लौकिक पुरुषार्थ द्वारा भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती; यही भक्ति की और भी विलक्षणता है। जहांतक बुद्धि का राज्य है, जहांतक ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध है वहींतक पुरुषार्थ का अधिकार विस्तृत हो सकता है; परन्तु भक्ति की भूमि ज्ञानभूमि से परे है, भक्ति का रूप ज्ञाता, ज्ञान और

ज्ञेय के रूप से स्वतंत्र, सदा अखंड भाव में स्थित है इस कारण पुरुषार्थ द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं होसकती । जहांतक ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध है वहांतक प्रकृति का राज्य है इस कारण प्रकृति के राज्य में पुरुषार्थ रूपी प्राकृतिक सहायता से उन्नत अधिकार प्राप्त होसकता है; परन्तु भक्तिभूमि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयसे अतीत होने के कारण वह अपरूप भक्तिभाव ईश्वर राज्य का पदार्थ है; इस कारण विना पुरुष अर्थात् ईश्वर की कृपा के भक्ति की प्राप्ति नहीं होसकती; यही भक्ति की विलक्षणता है । भक्ति एक स्वतंत्र, अलौकिक और अपूर्व्व आनन्दमय पदार्थ है; जो केवल मन की स्वतंत्र और एक विलक्षण गति से ही उत्पन्न होती है; प्रेममय श्रीभगवान् जब जीव के हृदय पर करुणा–वारि वर्षाते हैं तबही उसके अन्तःकरण में स्वतःही भक्तिप्रवाह वहने लगता है प्रेममयी–भक्ति विना प्रेममय ईश्वर की कृपा के नहीं प्राप्त होती ॥

अतएवफलानन्त्य ॥ ८ ॥

इस कारण भक्ति का फल अनन्त्य है ॥ ८ ॥

मनुष्य की शक्ति सदा परिवर्तनशील है इस कारण मनुष्य शक्ति के कार्य्य भी सदा एक रूप नहीं होसकते; आज साधक जिस पुरुषार्थ के साथ साधन कर रहा है कल अवस्था भेद से उसके पुरुषार्थ में न्यूनता होसकती है । परन्तु भक्ति में इस प्रकार परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं; क्योंकि साधनादि की उन्नति मानुषीय पुरुषार्थ से सम्बन्ध रखती है इस कारण अनिश्चित है, और भक्ति केवल ईश्वर की कृपा से ही संबन्ध रखती है; इस कारण निश्चित है । जीवशक्ति संकोचित और असम्पूर्ण है इस कारण जीव के पुरुषार्थ का

फल भी संकोचित और अनिश्चित होना सम्भव है; परन्तु जो भक्ति की प्राप्ति सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् की कृपा से ही हुआ करती है वह सदा निश्चित, पूर्ण और अनन्त फलप्रद ही है। भक्ति के उदय होने में विलक्षणता और कठिनता है; परन्तु जब भगवत्कृपा से उसका एक बार उदय होजाता है तब तो भगवत् कृपा रूपिणी भक्ति सदा पूर्ण और अनन्त फल प्रदायिनी ही बनी रहती है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं॥

तद्धतःप्रपत्तिशब्दाच्चनज्ञानमितरप्रपत्तिवत् ॥ ९ ॥

ज्ञानीगण भी शरणागत होते हैं और ज्ञानहीन को भी भक्ति की प्राप्ति होसकती है ॥ ९ ॥

पूर्व्व सूत्रों में भक्ति प्राप्त करने की विलक्षणता, और भक्ति के गुणों की अनन्तता दिखाय कर, अब इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार भक्ति का सार्व्वभौम भाव और उसकी प्रधानता सिद्ध कर रहे हैं । कर्म्मवादीगण चाहे कर्म्म करते करते ज्ञानाधिकार द्वारा मुक्तिपद में पहुंचे, चाहे ज्ञानवादी गण ज्ञान-साधन द्वारा मुक्तिपद का अधिकार करें; परन्तु मुक्तिपद प्राप्त करने में सब को ही एक अद्वैत अनन्य अवस्था में पहुंचना पड़ता है; सब दार्शनिकगण ही इस बात को एक मत होकर स्वीकार करते हैं कि ज्ञान-साधन द्वारा जब मनुष्य उच्च अवस्था को प्राप्त करलेता है तद्पश्चात् वह उन्नत साधक एक अद्वैत ज्ञानरूपी ब्रह्मसद्भाव अवस्था में पहुंच जाता है। इस कारण महर्षि सूत्रकार कहरहे हैं कि ज्ञानीगण भी अपनी कही हुई अनन्य भक्ति को स्वीकार करते हैं; मुक्तिपद प्राप्त करने के अर्थ उस मतावलम्बी साधक को भी ऐकान्तकी प्रेम का आश्रय लेना पड़ता है; अर्थात् उनका कहाहुआ ब्रह्मसद्भाव और अपनी कहीहुई

पराभक्ति दोनोंही एक अवस्था है। ज्ञानवादीगण जिस प्रकार स्वीकार करते हैं कि उनके कहेहुए ब्रह्मसद्भाव में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का लोप होकर एक अद्वैतभाव रहजाता है, ऐसेही अनन्यभाव पराभक्ति का लक्षण है; दोनों में ही ज्ञान का नाश होजाता है; इसकारण यह कहना ही पड़ेगा कि ज्ञानीगणों को भी शेष अवस्था में पराभक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। जब देखते हैं कि ज्ञानमार्ग के प्रधान प्रवर्तक श्रीभगवान् वेद व्यासजी ने नाना शास्त्र प्रणयन करने के अनन्तर परम शान्तिलाभार्थ श्रीमद्भागवत में भक्ति का मधुर प्रवाह प्रवाहित किया है; जब देखते हैं कि ज्ञानमार्ग के प्रधान आचार्य्य श्रीभगवान् शंकराचार्य्यजी ने स्तव किया है कि, "सत्यपिभेदापगमे नाथ तवाहंनमामि कीनस्त्वं, सामुद्रोहितरंगः क्वचिनसमुद्रोनतारंगः"। तब कैसे नहीं कहेंगे कि ज्ञानीगणों को भी शेष में भक्त होना पड़ता है। यही भक्ति की प्रधानता है। और बिना ज्ञान के भी जीवगण भक्ति के अधिकारी होसकते हैं इसका प्रमाण तो शास्त्रों में बहुतही मिलता है; ब्रजवासिनी गोपिका गणों ने न तो वेद और वेदसम्मत शास्त्रों का पाठ किया था और न "तत्वमसि" आदि महावाक्यों का विचार किया था, उसी प्रकार बालक ध्रुवको किसी से भी वेदान्त सिद्धान्त का उपदेश नहीं मिला था; परन्तु इन स्त्रीगणों को और इस बालक को ऐसी श्रेष्ठ अवस्था की प्राप्ति हुई थी कि जो बड़े २ योगी और मुनिगणों को भी दुर्लभ है। भक्ति क अधिकार समभाव से ज्ञानी और अज्ञानी, पुरुष, स्त्री और बालक तक में रहने के कारण ही वह भक्ति सार्व्वभौमशक्ति युक्त है। भगवत्कृपा रूपिणी भक्ति की महिमा अपार और विचित्र ही है॥

साम्मुख्येतरापेक्षितत्वात् ॥ १० ॥

सा अर्थात् वह भक्ति ही मुख्य है; क्योंकि और और साधनों में इसकी सहायता लेनी पड़ती है ॥ १० ॥

महर्षि सूत्रकार अब और विस्तारित रूपेण भक्ति की श्रेष्ठता वर्णन कर रहे हैं । पूर्व्व सूत्र में यह तो सिद्ध ही हो चुका है कि ज्ञानी को मुक्तिपद प्राप्ति करने के अर्थ भगवत्-भक्ति रूप अमृत का पान करना ही पड़ता है, अर्थात् पीछे से ज्ञानी भक्त ही होजाता है; अब महर्षि सूत्रकार यह सिद्ध कर रहे हैं कि वह भक्ति सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि सब साधनों में ही उसकी सहायता लेनी पड़ती है । जिस प्रकार बिना पराभक्ति प्राप्ति के मुक्तिपद का अधिकार जीव को नहीं हो सकता, उसीप्रकार गौणी-भक्ति की सहायता भी सकल प्रकार के साधकगणों को ही लेना पड़ता है; इसी कारण भक्ति की और भी श्रेष्ठता सिद्ध होती है । अधिकार-भेद होने के कारण जीव की आत्मोन्नति के अर्थ वेद में नाना प्रकार के साधन वर्णित हैं; जो लक्ष भेद से दो प्रकार के होते हैं यथा प्रवृत्तिमार्ग सम्बन्धीय साधन और निवृत्तिमार्ग सम्बन्धीय साधन; और पुनः उनमें से निवृत्तिमार्ग में भी अधिकार भेद के कारण चार भेद हैं यथा मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग; परन्तु चाहे निवृत्तिमार्ग के साधन हों और चाहे प्रवृत्तिमार्ग के साधन हों भक्ति की सहायता सब में ही लेनी पड़ती है । जिस प्रकार बिना उपास्य देवता में लक्ष जमाये और भक्ति किये सकाम-उपासना, और बिना देव-भक्ति के यज्ञ आदि सकाम कर्म्म सकल सिद्धि को प्राप्त नहीं करते; इसी प्रकार चाहे मंत्रयोग का साधन हो, चाहे हठ-योग का साधन हो, चाहे लययोग का साधन हो और चाहे

राजयोग का साधन हो विना आत्म-लक्ष जमाये, विना ध्याता, ध्यान और ध्येय विज्ञान द्वारा ध्येय रूप ईश्वर में चित्त स्थिर किये, और विना जगत्कर्त्ता त्रितापहर्त्ता ईश्वर में विश्वास और भक्ति रक्खे कोई भी साधन उन्नति को प्राप्त नहीं होसकता। इस कारण सूत्रकार महर्षि युक्ति और प्रमाण द्वारा यही सिद्ध कर रहे हैं कि सब प्रकार के साधनों में भक्ति सहायकारी होने के कारण भक्ति ही मुख्य है॥

प्रकरणाच्च॥ ११॥

और प्रकरण से ऐसाही है॥ ११॥

इस संसार में साधारण रीति पर विचारने पर भी वैसाही पाया जायगा; विचारने से यही प्रमाण होगा कि मनुष्य चाहे किसी प्रकार का कार्य्य करना चाहे बिना दृढ़ अनुराग के वह कार्य्य सिद्धही नहीं होसकता। जब इहलोक के कार्य्य में ऐसा देखने में आता है तो यह भी स्वतः सिद्ध है कि पारलौकिक कार्य्य भी ईश्वर भक्ति विना सफल नहीं होगा। ज्ञान आदि और योग आदि क्रिया के आधीन हैं, इस कारण वे साधन के अंग स्वरूप हैं। परन्तु ईश्वर-भक्ति सब साधनों में प्राण-स्वरूप है जैसे शरीर के सब अंग सुन्दर बने रहें परन्तु शरीर में प्राण न रहने से वह देह किसी कार्य्य के उपयोगी नहीं होता, इस रूप से भक्तिहीन कोई साधन भी पूर्ण फलदायक नहीं होगा॥

दर्शनफलमितिचेन्नतेनव्यवधानात्॥ १२॥

दर्शन लाभ ही फल नहीं है, क्योंकि उसमें व्यवधान रह जाता है॥ १२॥

ज्ञान द्वारा ब्रह्म के दर्शन होते हैं यह श्रुतिसिद्ध है; अर्थात् ज्ञान साधन से जीव को उस सर्वव्यापक सच्चिदा-

नन्द रूप ब्रह्म का दर्शन होजाता है जो सृष्टि से परे अद्वैत-रूप से वर्तमान है; इस प्रकार साधक को ज्ञान ही के द्वारा ब्रह्म अर्थात् निराकार ईश्वरके दर्शन होजाते हैं। उसीप्रकार उपासना और योग आदि साधन से साधक को ईश्वरके अलौकिक अपूर्व ज्योतिर्मयरूप, अनिर्वचनीय मनोहर सौन्दर्य और अनन्त वैचित्रपूर्ण ललित ललाम त्रिभुवन-मोहन-भाव आदि सहित साकार रूप का भी दर्शन हुआ करता है। इस कारण जिज्ञासुगणों के हृदयमें यदि शंका उठे कि इस प्रकार का भगवत् साक्षात्कारही क्या भक्ति साधन का लक्षहै ? ऐसी शंकाओं के दूर करने के अर्थ महर्षि सूत्रकार कहरहे हैं कि नहीं; दर्शनलाभ ही भक्ति-साधन का फल नहीं है, क्योंकि दर्शन करते समय व्यवधान रह जाता है। पूर्व विचारों से यही सिद्ध होचुका है कि जब साधक के हृदयमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों अवस्था-ओं की स्वातंत्रता मिटकर उसका अन्तःकरण एकमात्र अद्वैत-भाव को धारण करलेता है अर्थात् जब अत्यन्त प्रेमा-सक्त वह भक्त अपने प्रियतम प्रभु के अनन्य-प्रेम में विभोर होकर अनन्य तद्गतभाव को प्राप्त होजाता है तबही उसकी अवस्था यथार्थ में भक्ति अवस्था कहाती है। परन्तु चाहे उपासकभक्त उपासना-साधन द्वारा ईश्वर के साकार रूप का दर्शन करे, अथवा ज्ञानीभक्त ज्ञान-साधन द्वारा ईश्वर के निराकार रूप का दर्शन करे; उन दोनों की यह भगवत्-दर्शन-अवस्था एकही है। भगवत्साक्षात्कार करते समय दोनों प्रकार के साधक ही अपने अपने ज्ञान की सहायता से ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय वृत्तियों को धारण करतेहुए श्रीभगवान् का दर्शन किया करते हैं; इस कारण भगवत्-दर्शन-अवस्था में भी कुछ व्यवधान रहता है, अर्थात् भगवत्-रूप ज्ञेय और

साधक रूप ज्ञाता के बीचमें ज्ञान रूप व्यवधान रहाही करता है । इस कारण महर्षि सूत्रकार का इस सूत्र से यही तात्पर्य्य है कि भक्ति की चरम अवस्था अर्थात् पराभक्ति का भाव इस दर्शनभाव से और भी उन्नत है; वह अवस्था भक्त की तद्गत अवस्था होने के कारण उस अवस्था में और दर्शन अवस्था में बहुतही भेद है ॥

दृष्टत्वाच्च ॥ १३ ॥

इस प्रकार देखने में भी आता है ॥ १३ ॥

अव पूर्व विचार को दृढ़ करने के अर्थ महर्षि सूत्रकार जगत् में दृष्टान्त दिखाकर कह रहे हैं कि देखो जगत् में भी इस प्रकार देखने में आता है। विचारिये कि आपने किसी कामिनी के मनोहर रूप और नाना गुणराशि के वर्णन सुने तब आपका मन उस स्त्रीमें अनुरक्त हुआ, पुनः जब आपने अपने नेत्रों से उस सुन्दरी के दर्शन किये और उसके हाव भाव कटाक्षयुक्त पूर्ण मनोहर मूर्ति को देखा और उसके नाना गुणों की परीक्षा पाई तबही आपकी प्रीति उस स्त्री में दृढ़ हुई । जब आपने उस युवती का वर्णन केवल सुनाही था तब उसके और आपके बीचमें बहुतही व्यवधान था, पुनः जब आपने उसका दर्शन किया तो उस स्त्री का पूर्ण ज्ञान आपको हुआ, इस ज्ञान की प्राप्ति से उस स्त्री में आपके अनुराग की वृद्धि तो हुई; परन्तु व्यवधान तो भी रहगया। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञान से ही प्रीति की प्राप्ति हुई न कि प्रीति से ज्ञान की प्राप्ति हुई थी; क्योंकि जब आपने उस रमणी के विषय में सुना तब श्रवण रूप अल्प-ज्ञान से उस स्त्री में आपका अल्पही अनुराग हुआ, पुनः जब आपने उसको देख लिया तो दर्शन रूप विशेष ज्ञान से आप में विशेष अनुराग की सृष्टि हुई । परन्तु अभीतक आप में

और आपकी उस प्रियतमा में व्यवधान रहने के कारण आपको आनन्द की प्राप्ति नहीं हुई । जब प्रीति-कर्ता और प्रिय-वस्तु परस्पर मिल जायँगे तबही आनन्द प्राप्ति की सम्भावना है । इसी प्रकार जब जीव अपने प्रियतम ईश्वर से मिलकर एक रूप नहीं होजाता तब तक पूर्ण आनन्दकी सम्भावना नहीं, और यह अनन्यभाव की प्राप्ति केवल भक्ति सेही होसकती है ॥

अतएवतदभावाद्बल्लभीनाम् ॥ १४ ॥

ज्ञान विज्ञान आदि के अभाव रहने पर भी ब्रजगोपीगण अनुराग के बल से ही मुक्ति के लाभ करने में समर्थ हुईं थीं ॥ १४ ॥

पूर्व्व सूत्रों में महर्षि सूत्रकार जी भक्ति की श्रेष्ठता दिखाकर अब इस सूत्र द्वारा भक्ति की स्वाधीनता सिद्ध कर रहे हैं और कहते हैं कि ब्रजबिलासिनी गोपिकागणों ने न तो ब्रह्मसूत्रों का श्रवन, मनन और निदिध्यासन किया था और न कृच्छ्रसाध्य उपासना-मार्ग का साधन किया था, परन्तु केवल अनन्य भक्ति को धारण करके ही उन्हों ने मुक्ति पद को प्राप्त कर लिया था; इस कारण ऐसे उदाहरणों से यह सिद्ध ही है कि यदि भगवत् कृपा से जीव एकाएक ही यथार्थ भक्ति का अधिकारी होजाय तो उसको और किसी साधन की अपेक्षा करनी नहीं पड़ेगी । साधन मार्ग के प्रधान प्रवर्त्तक, कर्म्म उपासना और ज्ञान में समता सिद्धकारक, योगीराज महर्षि पतञ्जलिजी ने अपने योगसूत्रों में योग प्राप्ति अर्थात् चित्त-वृत्ति-निरोध रूपी मोक्ष-प्राप्ति के नाना उपाय वर्णन करते समय यही प्रमाणित कर दिखाया है कि एक मात्र भगवत्-भक्ति द्वारा ही जीव स्वतः कैवल्य रूपी मुक्तिपद को प्राप्त करलेता है; यदि यथार्थ

भक्त हो तो उसको और किसी साधन की अपेक्षा नहीं करनी पड़ेगी, केवल भगवत्भक्ति की सहायता से ही वह भक्त मुक्त होजायगा। यह तो पूर्व ही प्रमाणसिद्ध होचुका है कि ज्ञानी को भी शेष में भक्त होना पड़ता है, और यह भी पूर्व सूत्रों में प्रतिपन्न हो चुका है कि सकल प्रकार के साधनों में भक्ति की सहायता लेनी पड़ती है; परन्तु भगवत्शक्ति-युक्त-भक्ति किसी के भी आधीन नहीं है यह भी अब प्रमाण और युक्ति द्वारा प्रमाणित हुआ। जैसे भक्तिमय परम कारुणिक भगवान् की महिमा और करुणा अपार है, वैसेही भगवत्-प्रेममयी-भक्ति की भी शक्ति का पार नहीं॥

भक्त्याजानातीतिचेन्नभिज्ञप्तया साहाय्यात् ॥ १५ ॥

यदि ऐसा कहो कि भक्ति से ही ज्ञान का उदय होता है; ऐसा नहीं, क्योंकि ज्ञान भक्ति की सहायता किया करता है ॥ १५ ॥

यदि जिज्ञासु गणों के हृदय में ऐसा सन्देह हो कि भगवत्-भक्ति से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है और पुनः ज्ञान से मुक्ति होती है? तो ऐसे पूर्व्व पक्षों के उत्तर में महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि ऐसा विचारना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान भक्ति की सहायता किया करता है। जब देखते हैं कि ज्ञान की सहायता से ही साधक के हृदय में भक्ति की उन्नति होती जाती है, जब देखते हैं कि साधक जितना ईश्वर के तत्त्व को ज्ञान द्वारा भलीभांति समझने लगता है उतना ही अधिक ईश्वर-भक्ति का अधिकारी होता जाता है और जब देखते हैं कि भगवत्भक्त जितना ज्ञानवृद्ध होता जाता है, जितना वह परमतत्व रूपी ईश्वर के तत्व को जानता जाता है उतना ही वह भगवत्-प्रेम-सागर में निमग्न होता जाता है; तब यही कहना पड़ेगा कि ज्ञान ही भक्ति का

सहायक है । और जब ज्ञान भक्ति का सहायक है तब भक्ति से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होसकती । क्योंकि जो जिस पदार्थ का सहायक है वह उस पदार्थ से उत्पन्न नहीं होसकता यदिच अम्लरस दधि में भी है तत्रच जब देखते हैं कि अम्ल-रस की सहायता से ही दधि जमाकरता है, तब कैसे कहेंगे कि अम्लरस दधि से उत्पन्न होता है; सहायक—वस्तुसाहाय्य-वस्तु के समकालीन बस्तु है इस कारण उससे उसका उत्पन्न होना असम्भव है । इस बिचार से यह मानना ही पड़ेगा कि जब ज्ञान भक्ति का सहायक है अर्थात् जब ज्ञान भक्ति की उन्नति में सहायता करता है तब भक्ति का ज्ञान से उत्पन्न होना असम्भव ही हुआ । ईश्वर—प्रेममयी—भक्ति एक अपूर्व और बिलक्षण पदार्थ है ॥

प्रागुक्तंच ॥ १६ ॥

पूर्व्व में भी ऐसा कहा गया है ॥ १६ ॥

सूत्रकार महर्षि अपनी युक्तियों से भक्ति की श्रेष्ठता पूर्व्व सूत्रों में भली भांति सिद्ध करके, अब इस सूत्र द्वारा पूर्व्व-वर्ती नाना आचार्य्यगणों के मत को स्मरण कराते हुए अपने मत की और भी दृढ़ता स्थापन कर रहे हैं । और कह रहे हैं कि पूर्व्ववर्ती आचार्य्यगणों ने भी ऐसाही कहा है यथा श्री भगवान् के स्वयं श्रीमुख के बचन हैं कि, " ब्रह्मभूतः प्रसन्ना-त्मा न शोचति न कांक्षति,समःसर्वेषुभूतेषु मद्भक्ति लभते परां" अर्थात् ब्रह्मभाव प्राप्त करके जब मनुष्य प्रसन्नात्मा होता हुआ सब प्रकार की वासनाओं को त्याग कर देता है, उस समय सर्व्वभूत में समदर्शी होने पर वह मेरी पराभक्ति को प्राप्त होता है; श्रीभगवान् के इन वाक्यों का तात्पर्य्य यही है कि सब प्रकार के साधनों का एक मात्र फल भक्ति है ।

इसी प्रकार भक्तिमार्ग के एक प्रधान आचार्य्य देवर्षि नारदजी ने भी कहाहै कि "ॐ फल रूपत्वात्" अर्थात् वह भक्ति सब साधनों का फल रूप है ॥

एतेनविकल्पोऽपिप्रत्युक्तः ॥ १७ ॥

इससे विकल्प का नाश भी होगया ॥ १७ ॥

जिस पदार्थ में सन्देह हो उसको प्रमाण करने में अनुमान और आप्त वाक्यों की आवश्यकता होती है; अर्थात् जब किसी विषय को निश्चय करना पड़ता है तब प्रथम तो युक्तिद्वारा उसको अनुमान सिद्ध कर लिया जाता है, और तत्पश्चात् यदि त्रिकालदर्शी महात्माओं के आप्त वाक्य भी उस युक्तिमें मिलते हुए पाये जायें तो विचार की पूर्ण दृढ़ता होजाती है। और और प्रधान प्रधान दर्शनकारों ने भी अप्रत्यक्ष पदार्थ को सिद्ध करने के अर्थ अनुमान-प्रमाण और आप्त-प्रमाण कीही सहायता ली है। इस कारण महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि जब युक्तिद्वारा भी यह भली भांति सिद्ध होगया कि भक्ति ही सर्व्वोपरि प्रधान है, और पुनः आप्त वाक्य द्वारा भी वही निर्णय हुआ, तब अब कोई भी विकल्प नहीं रहा। भक्ति ही सब में श्रेष्ठ है इस में कोई भी सन्देह शेष नहीं रह गया ॥

देवभक्तिरितरस्मिन्साहचर्य्यात् ॥ १८ ॥

ईश्वर में भक्ति के सिवाय और देवताओं की जो भक्ति है वह पराभक्ति नहीं होसकती, क्योंकि इस प्रकार की भक्ति की नाईं और और स्थानों में भी भक्ति देख पड़ती है ॥ १८ ॥

अब इस सूत्रद्वारा महर्षि सूत्रकार यथार्थ भक्ति की विरोधी और वृत्तियों के वर्णन द्वारा, और उन वृत्तियों की निकृष्टता-

प्रमाण द्वारा अमृतमयी यथार्थ भक्ति के अभिलाषी साधक गणों को सावधान कर रहे हैं। और कह रहे हैं कि ईश्वर भक्ति के सिवाय और देवताओं में जो पक्षपाती भक्ति की-जाती है वह यथार्थ में पराभक्ति नहीं है; क्योंकि इसप्रकारकी वृत्ति की नाईं और और स्थानों में भी नाना वृत्तियां देख पड़ती हैं। किसी देवताका पक्षपाती उपासक जब अपने देवता में श्रद्धायुक्त होकर ऐसा विचारने लगे कि मेरा इष्ट देवता ही सर्वोत्तम देवता है और अन्योन्य देवता निकृष्ट हैं; तो उस पक्षपाती साधक की वह पक्षपाती देवभक्ति यथार्थ में भक्ति नहीं है, क्योंकि उस साधक की जिस प्रकार पक्षपाती श्रद्धा है वैसी श्रद्धा अथवा प्रीति संसार में और भी नाना स्थानों में देख पड़ती है। मनुष्यगण जिस प्रकार पक्षपाती होकर अपने ही पिता में पितृभक्ति, अपनी ही माता में मातृभक्ति, अपने ही गुरु में गुरु-भक्ति आदि पक्षपातीवृत्तियुक्त हुआ करते हैं; पक्षपाती नाना उपासकगणों की वह एकदेशीय पक्षपाती-देवभक्ति भी उसी रीति पर ही है। इस सूत्र का यही तात्पर्य्य है कि निम्न अधिकारी साधकगण जो समझा करते हैं कि जो कुछ है सो मेराही इष्ट देवता है और अविशिष्ट देवतागण घृणाके योग्य हैं, वह साधक की पक्षपाती लघुवृत्ति यथार्थ में भक्ति पद वाच्य नहीं होसकती; परंच जब एक मात्र सर्वशक्तिमान् जगत्कर्त्ता जानकर श्रीभगवान् के चरण कमल में विकल्प शून्य होकर प्रेममय साधक जो दृढ़ और ऐकान्तकी भक्ति करता है उसी को यथार्थ भक्ति कहते हैं॥

योगस्तूभयार्थमपेक्षणात्प्रयाजवत् ॥ १९ ॥

और योग तो बाजपेय यज्ञ में प्रयाजकी नाईं भक्ति और ज्ञान अंग स्वरूप है ॥ १९ ॥

योगशास्त्र प्रणेता योगीराज महर्षि पतञ्जलिजी ने यद्दिच चित्तवृत्ति निरोध होजाने से जो निर्विकल्प समाधि रूप फल की प्राप्ति होती है उसी अवस्था का नाम योग कहा है, तत्रच जिस प्रकार भक्ति के गौणीभक्ति और पराभक्ति नाम से दो भेद हैं उसी प्रकार योग के भी समाधियोग और साधनयोग नामसे दो भेद हैं। इस सूत्र में महर्षि सूत्रकार साधनयोग को लक्ष करके कह रहे हैं कि योग तो बाजपेय-यज्ञ में प्रयाज की नाईं भक्ति और ज्ञान का अंग स्वरूप है। जिस प्रकार प्रयाज से वाजपेययज्ञ का सम्बन्ध है उसीप्रकार योगसाधन भी भक्तिसाधन और ज्ञानसाधन इन उभय की ही सहायता किया करता है। जब साधकगण योग साधन द्वारा इन्द्रियों को वशीभूत कर मन के ठहराने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं तबही साधक में ज्ञान अथवा भक्ति की स्फूर्ति होने लगती है; क्योंकि मन के ठहरने से ही बुद्धि की निर्मलता होती है और निर्मल बुद्धि ही ब्रह्मज्ञान को धारण कर सकती है, और निर्मल अन्तःकरण में ही भगवत् प्रेममयी भक्ति का प्रवाह बह सकताहै; इस कारण अन्तःकरण की वृत्तिनिरोधकारी-योग इन दोनों का सहायक ही है। इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकारजी ने इस रीति पर योग की उभय सहायककारी सार्व्वभौम उपकारिता को दिखायकर, पुनः यह सिद्ध किया है कि अष्टाङ्गयोग भक्तिमार्ग का प्रधान सहायक है ॥

गौण्यातुसमाधिसिद्धिः ॥ २० ॥

गौणीभक्ति द्वारा समाधि की सिद्धि होती है ॥ २० ॥

पूर्व्व सूत्रों में उन्नत पराभक्ति का विस्तारित वर्णन करके अब महर्षि सूत्रकार निम्न अधिकारयुक्त गौणभक्ति का वर्णन कर रहे हैं । जिस प्रकार समाधि रूप योग के प्राप्त करने के अर्थ निम्न अधिकार में अष्टांगयोग सहायक है, उसी प्रकार पराभक्ति के प्राप्त करने के अर्थ गौणीभक्ति-साधन की आज्ञा आचार्य्यगणों ने दी है । गुरु और शास्त्र-वाक्यों में दृढ़ श्रद्धायुक्त होने पर, ईश्वर को प्राप्त करने के अर्थ उनकी महिमा और दया आदि को स्मरण करके साधक के हृदय में जो प्रथम अवस्था की भगवत्भक्ति का उदय होता है उसको गौणीभक्ति कहते हैं । उपासना और योग आदि से गौणीभक्ति की उन्नति होती है; और पुनः चित्त एकाग्र और मन की वृत्तियां पवित्र होने पर साधक को सविकल्प-समाधि की प्राप्ति हुआ करती है । इस सूत्र में जो समाधि शब्दका प्रयोग है वह योगशास्त्रोक्त प्रथम-समाधि अर्थात् सविकल्प-समाधि का ही वाचक है । योग-शास्त्र में प्रमाण है कि जब साधन द्वारा सत्व, रज और तम-गुण की चंचलता रूप क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ वृत्तियां एकाग्र से निरुद्ध अवस्था को प्राप्त होजाती हैं तबही समाधि का उदय होता है; भक्तिसाधन से स्वतःही अन्तःकरण निर्मल होकर ठहर जाता है, और अन्तःकरण चंचलता रहित होनेही से समाधि की भी प्राप्ति होती है इसमें कोई सन्देह नहीं ॥

हेयारागत्वादितिचेन्नोत्तमास्पदत्वात् सङ्गवत् ॥ २१ ॥

अनुरागही का नाम भक्ति है । कोई कोई ऋषि ऐसा कहते हैं कि अनुराग दुःख का कारण है इस कारण उसका त्याग करना उचित है । परन्तु यह बात ऐसी नहीं है, क्योंकि संग के नाईं इसका आश्रय उत्तम है ॥ २१ ॥

भक्तिही का नाम अनुराग है, ऐसा सूत्रकार महर्षि पहलेही कह आये हैं; परन्तु यदि जिज्ञासुगण अनुराग के विषय में और और ऋषियों के विरुद्ध मत देखने से सन्देह करने लगें, इस कारण उनके सन्देह मेटने को इस सूत्र का आर्विभाव किया । अब कहते हैं कि और और ऋषिगणों ने जो अनुराग को दुःखदायी कहा है उसका कारण यह है कि जीवगण माया वश भ्रम में पतित होकर प्रायः सांसारिक पदार्थों में अर्थात् पिता, माता, पुत्र, कलत्र, धन, ऐश्वर्य्य आदिमें अनुराग को स्थापन कर देते हैं; क्षणभंगुर अल्प-दिन-स्थाई पदार्थों में अनुराग रहने के कारण उस नाशवान् पदार्थ का नाश होतेही जीव का वह अनुराग जीव के दुःख का कारण होजाता है, यथार्थ में अनुराग का कोई भी दोष नहीं परन्तु जीव के प्रिय पदार्थों का स्थाइत्व न होने के कारण ही उस नाशवान् पदार्थ सेही जीवको दुःख होता है । अनु-रागही ने संसार में विषयों के साथ जीव का सम्बन्ध कर रक्खा था इस कारण जीवगणों को विषय वैराग्य सिखाने के अर्थ कोई कोई महर्षिगणों ने अनुरागही को दूषण लगा-या है; उनका ऐसा कहना वैराग्य शिक्षा कारक है, किन्तु अनुराग निन्दावाचक नहीं है । परंच ईश्वर-अनुराग में वैसे दोषकी सम्भावना नहीं; भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालों में एकरूप स्थाई श्रीभगवान् में अनुराग होने

से बिच्छेद की सम्भावनाही नहीं; विषय रूप कुसंग में जीव के दुःख पाने का कारण वर्त्तमान है, परन्तु ईश्वर रूप सत्संग में दुःख होने का कोई भी भय नहीं ॥

तदेवकर्म्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात् ॥ २२ ॥

कर्म्मी, ज्ञानी और योगी से भी भक्त को आधिक्य शब्द में वर्णन होते देखा जाता है इस कारण वह श्रेष्ठही है ॥ २२ ॥

अब महर्षि सूत्रकार आप्त प्रमाण द्वारा कर्म्मकांड, ज्ञानकांड और योगसाधन से भक्ति की उन्नत अवस्था प्रतिपन्न कर रहे हैं । वेदों में देखा जाता है कि प्रथम कर्म्मकांड पुनः उपासनाकांड और तत्पश्चात् ज्ञानकांड का वर्णन है, किंतु ईश्वर-भक्ति का वर्णन सब से स्वतंत्रही आया है, यद्दिच वेदों में परमात्मा की भक्ति का वर्णन सकल स्थानों में ही है परन्तु ऐसाही देखने में आता है कि उन तीनों कांडों के पीछेही भक्ति का विशेष वर्णन किया गया है; विशेषतः उपनिषद् समूह वेद के शेष भाग हैं और वे भक्ति वर्णन सेही पूर्ण हैं; इस विचार से भक्ति की श्रेष्ठता और इन तीनों कांडों के शेष में भक्ति का अधिकार ही सिद्ध होता है । श्रीभगवान् ने निज मुख से भी कहा है कि, " तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि तमोऽधिकः । कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना । श्रद्धावान्भजते योमां स मे युक्ततमोमतः ॥" अर्थात् योगी तपस्वीगणों से श्रेष्ठ हैं, और ज्ञानीगणों से श्रेष्ठ हैं, और कर्म्मीगणों से भी श्रेष्ठ हैं तथा वे मेरे अभिमत हैं; इस कारण हे अर्जुन ! तुम योगी बनो; श्रद्धा युक्त होकर मुझ मेंही अनन्यचित्त रहकर जो मेरा भजन करते हैं वे पुरुष सब योगियों में से श्रेष्ठ-

तर हैं इस कारणही ऐसे अनन्य भक्ति युक्त योगी मेरे प्रिय हैं। जब देखते हैं कि और सब अधिकारों के पीछे भक्ति का अधिकार वेदों में और निज भगवत्वाक्यों में पाया जाता है तो यह सिद्धही है कि भक्ति की अवस्था और सब अवस्थाओं से उन्नत है ॥

प्रश्ननिरूपणाभ्यामाधिक्यसिद्धेः ॥ २३ ॥

भक्ति की यह श्रेष्ठता प्रश्न और उत्तर द्वारा सिद्ध होचुकी है ॥२३॥

अब पुनः भक्तिदर्शन के इस विचार को और भी दृढ़ करने के अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि यदि अब भी किसी के चित्त में सन्देह रहै तो उनको उपनिषद् में श्रेष्ठ श्रीमद्भगवद्गीता का पाठ करना उचित है कि जिस में श्रीभगवान् श्रीकृष्ण और श्रीमान् अर्जुन में प्रश्नोत्तर संवाद से भक्ति कीही श्रेष्ठता प्रतिपन्न की गई है। श्रीमद्भगवतगीता उपनिषदों में श्रेष्ठ है, और सर्ववादी सम्मत सार्वभौम मत युक्त गाथा है; और जिसके उपदेशक स्वयं श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं और श्रीभगवान् वेदव्यास प्रकाशक हैं; जब ऐसे ग्रन्थमें पूर्णरूपेण भक्ति कीही श्रेष्ठता प्रतिपन्न कीगई है तो अब किसीको भी सन्देह नहीं रह-सक्ता ॥

नैवश्रद्धातुसाधारण्यात् ॥ २४ ॥

भक्ति श्रद्धा के नाईं नहीं है, क्योंकि श्रद्धा साधारणरूप से दिखाई पड़ती है ॥ २४ ॥

पूजनीय मनुष्य और पूजनीय पदार्थों में जो प्रीति होती है उसको श्रद्धा कहते हैं; यथा पिता, माता और गुरु आदि में श्रद्धा और सत्कर्म्म और सतशास्त्रों में श्रद्धा; इस रूपसे श्रद्धा साधारण प्रकार सेही देखने में आती है।

परन्तु भक्ति श्रीभगवान् के चरणों के सिवाय और कहीं नहीं रहसक्ती; एकमात्र भगवत्प्राप्ति का नाम ही भक्ति है॥

तस्यांतत्वेचानवस्थानात् ॥ २५ ॥

श्रद्धा और भक्ति को एक अर्थ में लगानेसे दोष हो जायगा॥ २५ ॥

प्रथम तो श्रद्धा नाना स्थानों में हुआ करती है, द्वितीय सांसारिक विषयों में श्रद्धा की स्थिति होने के कारण श्रद्धा परिवर्तनशील है । परन्तु भक्ति की स्थिति ईश्वर हीमें होने के कारण भक्ति निर्विकार और चिरस्थाई पदार्थ है। इस कारण श्रद्धा को भक्ति के स्थान में आरोपण करना-उचित नहीं है । जबतक ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान है तब-तकही श्रद्धा अपना अधिकार स्थापन करसक्ती है, जब-तक प्रकृति का अधिकार रहता है तबतक ही श्रद्धा रह-सकती है; परन्तु भक्ति पुरुष अर्थात् ईश्वरकोटि का पदार्थ है, जब भक्त ईश्वरकोटि में पहुंचकर भगवत्प्रेम में लय हो-जाता है तबही यथार्थ भक्ति का उदय हुआ करता है ॥

ब्रह्मकांडंतुभक्तौतस्यानुज्ञानायसामान्यात् ॥ २६॥

भक्ति के प्रतिपादन अर्थ ही ब्रह्म विषयके उत्तरकांड से ज्ञानकांड की सामान्यता दिखाई गई है ॥ २६ ॥

जबतक ज्ञाता और ज्ञेय दोनों स्वतंत्र स्वतंत्र बने रहते हैं तबतक ही ज्ञान की स्थिति होसकती है; ज्ञानही मध्य-वर्त्ती रहकर ज्ञाता को ज्ञेयवस्तु का दर्शन कराया करता है; इस कारण ज्ञान की अवस्था प्रकृति राज्य की अवस्था है; इस कारण ज्ञान की अवस्था श्रद्धा ही का अधिकार भुक्त है; परन्तु भक्ति की अवस्था उस अवस्था से अतीतही है । यदि ज्ञानही सब कुछ होता, यदि ज्ञान की अवस्थाही वेद का शेष लक्ष होता, तो श्रुतियों में ज्ञानकांड के वर्णन के पीछे

ईश्वर भक्ति का वर्णन न देख पड़ता। ज्ञान-अवस्था के अनंतर भक्ति-अवस्था का अधिकार है. इस कारणही वेदों के शेषभाग उपनिषदों में ज्ञान और भक्ति का एकस्थान पर मिलाप देख पड़ता है; ज्ञान-अवस्था के अनन्तर भक्ति-अवस्था का अधिकार है इसकारणही उपनिषद् समूह साधकगणों को ज्ञान द्वारा ईश्वर साक्षात् कराय के तदनन्तर भक्ति अमृतपान कराय तृप्त, मुक्त और कृतकृत्य किया करतेहैं॥

इति महर्षि शाण्डिल्यकृत भक्तिदर्शन अन्तर्गत प्रथमोध्यायरेवंतद्सह निगमागमीनामकभाष्यः समाप्तः।

द्वितीय अध्यायः।

प्रथमाह्निकः।

बुद्धिहेतुप्रवृत्तिराविशुद्धेरवघातवत् ॥ २७॥

जबतक धानपर तुष रहता है तबहीतक धान को उदूकल और मूशल द्वारा कूटा जाता है। इसी प्रकार बुद्धि संबन्धीय प्रवृत्तियां तबहीतक रहती हैं जबतक चित्त शुद्ध नहीं होजाता है॥ २७॥

ज्ञानअवस्था और भक्तिअवस्था इन दोनों में जो पृथकताहै उसको स्पष्टरूपेण दिखाने के अर्थ महर्षि सूत्रकार अब कह रहे हैं कि, जिस प्रकार धान पर तुष रहते समय ही धानको उदूकल और मूशल द्वारा कूटने की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार बुद्धि सम्बन्धीय वृत्तियां तभीतक रहती हैं जबतक चित्त शुद्ध नहीं होजाता। बुद्धि की मलीनता ही उसकी चंचलता का कारण है,इस चंचलता के दूर करने के अर्थ ही योग और उपासना आदि साधन और श्रवण,मनन, निदिध्यासन आदि क्रिया करने की आवश्य-

कता है; तुष आदि के निकलजाने से जैसा तंडुल निर्मल हो-जाता है उसीप्रकार बुद्धि जब चंचलता रहित होकर शुद्ध होजाती है तब ही उसमें भगवत् साक्षात्कारिणीशक्ति उत्पन्न होजाती है। भगवत् साक्षात्कार अर्थात् पराभक्ति का उदय होनेपर और किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं रहती। जबतक बुद्धि राज्य में विचार रहता है तबतक साध-नका रहना और क्रिया का होना भी अवश्य सम्भावी है; परन्तु जब साधक भक्ति राज्य में पहुंच जाता है तब उसके हृदय में अनन्यप्रेम का उदय होने के कारण उसका अन्तः-करण तद्गत भावको धारण करके भगवत्‌रूप में लयहो जाता-है, और तब ज्ञान का अभाव होनेसे क्रियाका नाश होकर एकमात्र भक्तिप्रवाह ही बहने लगता है ॥

तदङ्गानाञ्च ॥ २८ ॥

उसके अंग समूहों कीभी आवश्यकता नहीं रहती ॥ २८ ॥

पूर्व सूत्र को विस्तारित रूपेण समझाने के अर्थ महर्षि सूत्र-कार कहते हैं कि जब पराभक्ति का उदय हो जाता है तब पूर्वअंगों की अर्थात् गौणी भक्ति संबन्धीय साधन अथवा ज्ञान अवस्था संबन्धीय श्रवण, मनन निदिध्यासन आदि साधन अंगों की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती। प्रेममय भक्त तब तन्मय हो जाता है; अर्थात् उस अवस्था में उनकी दृष्टि विधि निषेधोंपर नहीं रहती; इसी अवस्था का नाम वेदों में परमहंस अवस्था कहा है ॥

इस सूत्र अर्थ से यह समझना उचित नहीं है कि उन्नत भक्तगणः यथेच्छाचारी होजाते हैं; क्यों कि जिनका चित्त भगवत्-प्रेमसागर में डूब जाता है उनसे भगवत् आज्ञा विरुद्ध कार्य्य होयही नहीं सकता। यदिच अनन्यभक्त की

दृष्टि विधि और निषेध पर नहीं रहती अर्थात् वे तब प्रकृति-राज्य से उपराम होने के कारण प्रकृति राज्य सम्बन्धीय विधि निषेध पर दृष्टि डालते ही नहीं; तत्राच यह समझना ही उचित है कि प्रकृति जब ईश्वर के आधीन है, ईश्वर की आज्ञा सेही जब प्रकृति राज्य में धर्म्म की रक्षा हो रही है; तब भगवत्भाव में लय हुए भक्त द्वारा भगवत् आज्ञा विरुद्ध असत कार्य्य होगा ही नहीं। भगवत्भाव मय भक्त द्वारा जो कुछ कार्य्य होगा वह धर्म्म–सहायकारी कार्य्यही होगा, भगवत्भावमय–भक्त द्वारा जो कुछ उपदेश होगा वह जीव–हितकारी उपदेश ही होगा, इसमें कोई भी सन्देह नहीं॥

तामैश्वर्य्यपदांकाश्यपःपरत्वात्॥ २९॥

विभिन्नता के कारण आचार्य्य कश्यपऋषि ने इसको ऐश्वर्य्यपदा कहके वर्णन किया है॥ २९॥

अब जिज्ञासुगणों के सन्देह निवारणार्थ महर्षि सूत्रकार नाना आचार्य्यों के नाना मत दिखाते हुए, अपनी सार्व्वभौम युक्ति द्वारा सब की एकता दिखावेंगे। प्रथम इस सूत्र में द्वैतवाद के प्रधान आचार्य्य महर्षि कश्यप के मत का वर्णन कर रहे हैं; और कहते हैं कि आचार्य्य कश्यप का मत यह है कि जीव और ईश्वर नित्य स्वतंत्र हैं; इस कारण सब ऐश्वर्यों के एकमात्र आधार परमेश्वर की सेवा करना ही जीव का परम पुरुषार्थ है। साधक गणों को जीव और ईश्वर की स्वतंत्रता मानकर सदा परम प्रियतम जगन्नाथ की सेवा में युक्त रहना ही उचित है; इसी से उनका कल्याण होगा।

आत्मैकपरां बादरायणः ॥ ३० ॥

आचार्य्य बादरायण उसको आत्मपर कहते हैं ॥ ३० ॥

अद्वैतवाद के प्रधान आचार्य्य भगवान् बादरायण अर्थात् वेदव्यास जीने वेदान्त सूत्रों से यही सिद्ध किया है कि आत्म-साक्षात्कार ही परम पुरुषार्थ है; जब जीव का द्वैत रूपी भ्रम दूर होजाता है और वह सर्व्वव्यापक निर्विकल्प सत् चित् आनन्दरूपी परमात्मा के रूप को प्राप्त कर लेता है तब ही साधन की पूर्ण सिद्धि समझनी चाहिये। द्वैत और अद्वैत दोंनों सम्प्रदायों के ही जिज्ञासुगणों के भ्रम दूर करणार्थ प्रथम महर्षि सूत्रकार जी द्वैत मार्ग के प्रधान आचार्य्य कश्यप के मत को प्रकाश करके, अब इस सूत्र द्वारा अद्वैत मार्ग के प्रधान आचार्य महर्षि वेदव्यास जी के मत को प्रकाशित कर रहे हैं;और पुनराय अगले सूत्रमें अपने मतद्वारा दोंनों की एकता स्थापन करेंगे।

उभयपरां शांडिल्यः शब्दोपपत्तिभ्याम् ॥ ३१ ॥

शब्द और उपपत्तिद्वारा महर्षि शांडिल्य इसको उभयपर कहते हैं ॥ ३१ ॥

परमज्ञानी सूत्रकार महर्षि इस सूत्रद्वारा द्वैत और अद्वैत इन उभयमतों का ऐक्य स्थापन करके कहते हैं कि दोंनों आचार्य्यों का मत ठीकही है। आत्मा ईश्वर का अंश है यह बात युक्ति और विचार द्वारा सिद्धही है; विशेषतः ईश्वर से और जीव से इस प्रकार का सम्बन्ध होना सब दर्शनकारों ने ही स्वीकार कियाहै। जब आत्मा अर्थात् जीव ब्रह्मसत्ता अर्थात् ईश्वर में विलीन होकर एक-रूप होजाय अद्वैत वादीगण उसी अवस्था को ब्रह्मसद्भाव कहते हैं; परन्तु जबतक आत्मा ब्रह्ममें लय नहो तबतक उनकी स्वतंत्रता भी सिद्धही है। यदिच जीव और ब्रह्म की एकतारूप ब्रह्मसद्भावमें

कुछ भी क्रिया की सम्भावना नहीं; तत्राच जीव ब्रह्म की स्वतं-त्रता में क्रिया का रहना भी उचित है, और इसकारण उस स्वतंत्र अवस्था में जीव को अपनी लघु सत्ता मानकर पूर्ण सत्तावान् ईश्वर की उपासना करना भी उचितही है। इस विचारसे यही सिद्ध हुआ कि जीव अवस्था में द्वैत पक्ष यथार्थ है, और मुक्त अवस्था में अद्वैतपक्ष भी यथार्थही है; इस कारण द्वैत और अद्वैतमत के आचार्य्यों में मतभेद कुछ भी नहीं है; केवल उनके शास्त्रों में स्वतंत्र स्वतंत्र, अधिकारियों का स्वतंत्र स्वतंत्र अधिकार वर्णन किया गया है ॥

वैषम्यादऽसिद्धमितिचेन्नाभिज्ञानवदवैशिष्ट्यात् ॥ ३२ ॥

वैषम्य होने से यह असिद्ध नहीं होगा, क्योंकि यह
ज्ञान की नाईं अवैशिष्ट है ॥ ३२ ॥

इन दोनों अवस्थाओं की एकता देखकर कदाचित् जिज्ञासुगणों के हृदय में सन्देह हो इसकारण उनके सन्देह दूर करने के अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि जिस प्रकार भिन्न भिन्न देशों के भिन्न भिन्न समय की घटना एकही साथ स्मरण होनेपर भी उनमें किसी प्रकार का वैषम्य नहीं रहना; उसी प्रकार वैसा होनेपर भी ईश्वर में किसीप्रकार की वैषम्यता नहीं आय सक्ती ॥

नचाक्लिष्टःपरस्यादनन्तरंविशेषात् ॥ ३३ ॥

परमात्मा में वैषम्य दोष स्पर्श नहीं करता, क्योंकि ज्ञान द्वारा
विशेषभावों की उपलब्धि हुआ करती है ॥ ३३ ॥

परमात्मा में कुछ भी विषमता का कारण होही नहीं सक्ता क्योंकि जीव को जो भिन्न भिन्न भावों का अनुभव होता है वह उसके अल्प ज्ञान सेही होता है; परन्तु ईश्वर जैसे सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् हैं वे वैसे ही त्रिकाल में रहेंगे । जीव में

अल्पज्ञता है इस कारणही उसमें बुद्धि की चंचलता भी है; परन्तु पूर्ण ज्ञानमय ईश्वर में चंचलता रूप वैषम्य दोष नहीं होसकता ॥

ऐश्वर्य्यंतथेतिचेन्नस्वाभाव्यात् ॥ ३४ ॥

ऐश्वर्य्यों में दोष स्पर्श नहीं करता, क्योंकि वे स्वाभाविक हैं ॥ ३४ ॥

यदि जिज्ञासुगणों के हृदय में ऐसा सन्देह हो कि कदापि वैसा विचार करने में ईश्वरके ऐश्वर्य्यों में फेर पड़ सक्ता है; इस कारण उनके सन्देह दूर करणार्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि ईश्वर के ऐश्वर्य्यों में कभी भी फेर नहीं पड़ सक्ता; क्योंकि ईश्वर के ऐश्वर्य्य कहीं से लिये हुए नहीं हैं अथवा उपाधि मूलक भी नहीं हैं । जैसे प्रकाश और दहनशक्ति अग्नि की स्वाभाविक और नित्यस्थाई शक्ति है, वैसे ही ईश्वर के ऐश्वर्य्य भी स्वाभाविक हैं । और जब ईश्वर में दोष स्पर्श नहीं करसक्ता तो उनके स्वाभाविक ऐश्वर्यों में भी दोष स्पर्श करने की सम्भावना नहीं ॥

अप्रतिसिद्धंपरैश्वर्य्यंतद्भावाच्चनैवमितरेषाम् ॥ ३५ ॥

ईश्वर के ऐश्वर्य्य कभी भी प्रतिसिद्ध नहीं होते हैं, उनकी नित्यताही देखने में आती है; परन्तु जीवगणों में वैसा नहीं है ॥ ३५ ॥

जीवात्मा में ऐश्वर्य्य वर्त्तमान है क्योंकि जीव अपनी क्षुद्र शक्ति के अनुसार थोड़ी बहुत सृष्टि आदि क्रिया कर सकता है; परन्तु जीव में माया का विकार रहने के कारण वह ऐश्वर्य्य परिस्फुट नहीं हो सकते समल ही रहते हैं । भगवत् उपासना द्वारा जब जीव में की अविद्या का नाश हो जाता है तब वही जीव शिवरूप होकर ईश्वर की ऐश्वर्य्यराशियों का अधिकारी होजाता है, परन्तु जबतक जीव जीव ही रहता है तबतक वह पूर्ण ऐश्वर्य्यों का अधिकारी हो नहीं सकता ।

श्री भगवान् को अपने ऐश्वर्य्य इस प्रकार से लाभ करने नहीं पड़ते हैं; उन के ऐश्वर्य्य नित्य और स्वाभाविक ही हैं॥

सर्वानृतेकिमितिचेन्नैवं बुद्ध्यानन्त्यात् ॥ ३६ ॥

सब छोड़ देने पर फिर उसकी क्या आवश्यकता है ? आवश्यकता अवश्य है, क्योंकि बुद्धि बहुत प्रकार की होती है ॥ ३६ ॥

अब यदि जिज्ञासुगणों के हृदय में यह शंका उठे कि जीव को तो सदा मुक्ति उपाय का ही चिन्तन करना उचित है, भक्ति ही उनके लिये श्रेय है, तो पुनः ऐश्वर्य्यों का वर्णन क्यों किया जाता है ? साधक भक्तगण ऐश्वर्य्य लेके क्या करेंगे ? इस प्रकार की शंकाओं के दूरकरने के अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि जीव अनन्त हैं; इस कारण जीव की मति गति का भी ठिकाना नहीं; सबही जीव मुक्ति के अभिलाषी थोड़े ही होते हैं । जो साधक ऐश्वर्य्य का भिखारी हो उसके अर्थ ऐश्वर्य्यों का होना भी अवश्य है । क्योंकि जब साधक अपनी कामना के अनुसार सिद्धियों को प्राप्त कर लेगा; तब ही वह आगे को बढ़ सकेगा; वासना रहते जीव मुक्तिपद का अधिकारी हो ही नहीं सकता । इस कारण मध्यवर्त्ती साधकों के हितार्थ, प्रार्थनाकारियों की प्रार्थना पूर्ण करणार्थ, उन पर कृपा वश हो आचार्य्यगणों ने अपने ग्रन्थों में सिद्धियों का वर्णन किया है ॥

प्रकृत्यन्तरालादवैकार्यंचित्सत्त्वेनानुवर्तमानत्वात् ॥ ३७ ॥

प्रकृति से अलग रहकर चित्–सत्ता की स्वतंत्र अधिकारिता सिद्ध है॥ ३७॥

अब महर्षि सूत्रकार सृष्टि क्रिया से ईश्वर का सम्बन्ध वर्णन कर रहे हैं । सृष्टि, स्थिति और संहार करना चित्स्वरूप परमात्मा का कार्य्य नहीं है । प्रकृति ही चैतन्य सत्ता से सत्तावती होकर अपने सत्त्व, रज और तम तीन

गुणोंद्वारा सृष्टि, स्थिति, लय आदि क्रिया किया करती हैं; सृष्टि की सब क्रियाएं प्रकृति के वैचित्र से ही होती हैं । पुरुष अर्थात् परमात्मा उन सबों में निर्लिप्त है, इस कारण प्रकृति की क्रिया से उनमें कोई भी विकार नहीं हुआ करता है । इस सूत्र में महर्षि सूत्रकार जी ने त्रिगुणमयी प्रकृति को ही सृष्टि का कारण करके सिद्ध किया है; उनका यही तात्पर्य्य है कि यदिच पुरुष की सत्ता से ही सत्तावती होकर प्रकृति सृष्टि क्रिया करती है तत्राच पुरुष उस क्रिया से निःसंग है, और जो कुछ कार्य्य करती है वह प्रकृति ही करती है; सृष्टि में जो कुछ क्रिया होती है वह प्रकृति सेही होती है । सांख्यदर्शन में महर्षि कापिलजी ने भी यह भलीभांति सिद्ध कर दिखाया है कि एकमात्र प्रकृति ही से जगत की सृष्टि क्रिया होरही है । सांख्यकार महर्षि जी ने कहा है कि, "आदिहेतुतद्द्वातारापारम्पर्य्येप्यणुवत्" अर्थात् परंपराय सम्बन्ध विचार से यही सिद्धान्त होता है कि प्रकृति ही सृष्टि का कारण है, जिस प्रकार पदार्थवादी गण अणु को मूल कारण कर जानते हैं उस प्रकार ही प्रकृति भी इस सृष्टि क्रिया का मूल कारण है । यदिच निकट सम्बन्ध से अहंकार को ही कोई कोई मतावलम्बी सृष्टि विस्तार का कारण कहते हैं तत्राच आदि सम्बन्ध से मूलप्रकृति ही सृष्टि का मूल कारण है इस में कोई भी सन्देह नहीं ।

तत्प्रतिष्ठागृहपीढवत् ॥ ३८ ॥

उनकी स्थिति घर के भीतर की पीढ़ी के नाईं है ॥ ३८ ॥

पूर्वसूत्र में महर्षि सूत्रकारजी सृष्टि का वर्णन करके अब इससूत्र में पुरुष अर्थात् ईश्वर स्वरूप का वर्णन कररहे हैं । और कहतेहैं कि जब कोई मनुष्य घरके भीतर पीढ़ी पर

बैठाहुआ हो, और कहने में यही आवे कि "अमुक घर के भीतर पीढ़ीपर बैठा हुआहै" तो यही समझ में आवेगा कि पीढ़ी और मनुष्य दोनोंही उस घर के भीतर हैं। इसी प्रकार माया और माया की क्रिया स्वरूप सृष्टि, स्थिति, और लय आदि ईश्वर मेंही प्रतिष्ठित हैं। यदिच वेद ऐसा कहते हैं कि "असङ्गोऽयम्पुरुषः" अर्थात् पुरुष असङ्गहैं; तत्राच प्रकृति जो कुछ करती है वह पुरुष के अर्थही करती है क्योंकि प्रकृति स्वतंत्र नहीं है किन्तु परतंत्र है। और इसी विचार को सिद्धकरने के अर्थ सांख्यदर्शनकर्त्ता महर्षिक-पिलजीने भी कहा है कि, "पूर्वभावित्वेद्वयोरेकतरस्यहानेऽन्यतरयोगः" अर्थात् दोनों पूर्व में होने पर भी एक के हान में अन्य का योग है। सांख्यकारजी ने इस सूत्र द्वारा प्रकृति और पुरुष दोनों ही को सृष्टि के मूल में स्थापन किया है परन्तु सृष्टि क्रिया को प्रकृति हीमें प्रतिपन्न किया है। पुरुषऔर प्रकृति के संयोग को किसी न किसी रूपान्तर में सब ही दर्शनकारों ने माना है; परन्तु पुरुष अपरिणामी और निःसंग है किन्तु प्रकृति परिणामी और संगवती है इस कारण प्रकृति को ही केवल सृष्टि का मूलप्रतिपन्न किया जाता है; परंच कुछ ही हो यह तो मानना ही पड़ेगा कि सृष्टि के मूल में दोनों ही हैं। इस कारण महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि ईश्वर स्थिति का विचार करने से सृष्टि क्रिया का सम्बन्ध भी उन में पाया जायगा।

मिथोपेक्षणादुभयं ॥ ३९ ॥

दोनों ही इसके कारणरूप हैं ॥ ३९ ॥

पूर्व्व विचार को सरल करने के अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि दोनोंहीं इस सृष्टि के कारण हैं ऐसा समझना

उचित है। ईश्वर सत्ता न रहने से केवल प्रकृति अर्थात् माया से ही सृष्टि की क्रिया नहीं चल सकती; उसी प्रकार माया की सहायता बिना केवल चैतन्यसत्ता से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति क्रिया का होना असम्भव है। इस कारण जब सृष्टि क्रिया में दोनों को ही देखते हैं तब यह मानना ही पड़ेगा कि पुरुष अर्थात् ईश्वर और प्रकृति अर्थात् माया दोनोंही सृष्टि के कारण हैं।

चेत्याचितोर्नत्रितीयं ॥ ४० ॥

प्रकृति और ब्रह्म में कोई भी विभिन्नता नहीं है ॥ ४० ॥

अब पूर्व्व विचार को देखकर यदि जिज्ञासुगणों के हृदय में सन्देह उठे कि पुरुष और प्रकृति दोनों को ही सृष्टि का कारण कहा जाता है यह कैसे सम्भव है ? दो की स्वतंत्र स्वतंत्र सत्ता कैसे मानसकते हैं ? इत्यादि शंकाओं के दूर करने के अर्थ सूत्रकार महर्षि कह रहे हैं कि ऐसी शंका करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पुरुष अर्थात् ब्रह्म और प्रकृति अर्थात् माया यह दोनों कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं हैं। जिस प्रकार मैं और मेरा वस्त्र कहने से, अथवा मैं और मेरी शक्ति कहने से मुझ में और मेरे वस्त्र में अथवा मुझ में और मेरी शक्ति में कोई भी भेद नहीं जान पड़ेगा; उसी प्रकार ईश्वर और ईश्वर की प्रकृति अर्थात् शक्ति में कोई भी भेद नहीं है। "मैं" ऐसा शब्द कहने से मेरा और उस के साथ ही मेरारूप और मेरे दोष गुण का संबन्ध उसी "मैं" शब्द में ही आय जायगा; उसी प्रकार "ब्रह्म" कहने से माया भी "ब्रह्म" शब्द के साथ ही अनुभूत होगी। और "प्रकृति" शब्द कहने से भी ईश्वर अर्थात् ब्रह्म का भी अनुभव साथ ही साथ होगा; क्योंकि प्रकृति और कुछ पदार्थ नहीं है किन्तु

केवल ईश्वर की शक्ति का नाम ही प्रकृति है। ब्रह्म, पुरुष, परमात्मा, और ईश्वर आदि शब्द सब एक ही अर्थ वाचक हैं, और उसी प्रकार उनकी ही शक्ति का नाम प्रकृति, माया, शक्ति, और महाविद्या आदि शब्द हैं। जिज्ञासुगणों को भलीभांति समझाने के अर्थ ही दर्शनशास्त्रों के प्रकाशक महात्मागणों ने प्रकृति और ईश्वर को अलग अलग कर दिखाया है; जब साधक साधन विधि से ब्रह्मतत्व को समझ जाता है तब ही वह निर्विकार अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

युक्तौच सम्परायात् ॥४१॥

वियोग के पूर्व में दोनों ही एक हैं ॥ ४१ ॥

सृष्टि आदि क्रिया के समय ब्रह्म और प्रकृति अलग अलग दिखाई पड़ते हैं, परन्तु क्रिया का प्रवाह छोड़ देकर दर्शन करने से ब्रह्म और प्रकृति का नित्य एकही सम्बन्ध दिखाई पड़ेगा। अर्थात् जब दृष्टि संसार की ओर बनी रहती है उस समय ज्ञान से संसार की क्रिया रूप प्रकृति और एकमात्र चैतन्य सत्ता रूप ब्रह्म का स्वतंत्र स्वतंत्र स्वरूप दिखाई देता है; परन्तु दृष्टि अन्तर्मुखी होने से संसार की सत्ता पर दृष्टि रहती ही नहीं, और तब ही साधक को प्रकृति और ब्रह्म की एक सत्ता अनुभव होजाती है। उसी एक अवस्था को दर्शनकारों ने ब्रह्म कहा है ॥

शक्तित्वान्नानृतंवेद्यं ॥ ४२ ॥

शक्तिही की क्रिया है इस कारण यह जगत् मिथ्या नहीं है ॥ ४२ ॥

यह संसार प्रकृति अर्थात् माया की क्रिया है इस कारण यह मिथ्या नहीं होसक्ता; जब ब्रह्म सत्य है तो उन की शक्तिरूप प्रकृति भी सत्य है; और जब प्रकृति सत्य है तो उस की क्रिया रूप संसार भी सत्य है। शक्ति रूपिणी माया को जड़

कहने में सुगमता पड़े तो भलेही उस को जड़ कहो, परन्तु सत्य की क्रिया को कैसे मिथ्या कह सक्ते हैं । जगत् संसार को मायारूप कहने से विचार ठीक पड़े तो माया कहो, यदि भ्रम कहने में शिष्य को समझाने में सहायता पड़े तो भ्रम कहो, परन्तु मिथ्या कहना ठीक नहीं है, जब इस संसार का कारण प्रकृतिरूप बीज सत्य है तो उस बीज से उत्पन्न हुआ यह संसार महाद्रुम भी सत्य ही है ।

तत्परिशुद्धिश्चगम्यालोकवल्लिंगेभ्यः ॥ ४३ ॥

उसकी अर्थात् भक्ति की शुद्धता मनुष्यों के चिन्ह से
अनुभव होगी ॥ ४३ ॥

पूर्व सूत्रों में महर्षि सूत्रकारजी ने संसार की सृष्टि का विस्तारितरूपेण वर्णन करके, अब इस सूत्रद्वारा वे भक्तगणों के लक्षण वर्णन कररहे हैं। और कह रहे हैं कि साधक में भक्ति भाव प्रकाश होने के जो अश्रुपात, रोमांच, गद्गद् वाक्यों की स्फूर्ति, दीनता, सरलता, धर्म्म की सार्वभौमिक दृष्टि आदि लक्षण हैं, उनका प्रकाश किस साधक में कितना हुआ है उस के देखने से ही साधक का अधिकार समझ में आजायगा । श्रीभगवान् ने निज मुख से ही साधकों के लक्षण श्रीमद्भगवत्गीता में कहे हैं यथा, "अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः । दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तपआर्जवम् ॥ अहिंसा सत्यमक्रोध स्त्यागः शान्तिरपैशुनम् । दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ तेजःक्षमा धृतिःशौच मद्रोहो नातिमानिता। भवंति संपदं दैवी मभिजातस्य भारत "॥ अर्थात हे भारत ! भय शून्यता, चित्त की शुद्धता, आत्मज्ञान प्राप्त करने के उपायों में अनुराग, दान अर्थात परोपकारार्थ देना, इन्द्रिय संयम, यज्ञ, वेदाध्ययन, तप, सरलता, अहिंसा अर्थात् जीवों को क्लेश

देने से बचना, सत्य, क्रोध रहित होना, त्याग अर्थात् कर्म्म के फलों में अनासक्ति, शान्ति, खलता शून्यता, सर्व भूतों में दया, निर्लोभता, अहंकार राहित्य, ह्री अर्थात् असत् कार्य्यों में लज्जा, अचंचलता, तेज, क्षमा अर्थात् अपकारकारी को दंड देने की सामर्थ रखने पर भी उसको क्षमा करना, धृति अर्थात् सुख और दुःख में विचलित न होना, अन्तर और बहिर्शुद्धता, अद्रोह और नातिमानिता अर्थात् मैं पूजनीय हूं ऐसे अभिमान से बचना ये सब दैवी सम्पद के अभिमुख जाने वाले पुरुषों में लक्षण हुआ करते हैं। महर्षि सूत्रकार का इस सूत्र से यही तात्पर्य है कि भगवत्-प्रेम-मय-भक्त भगवत्-राज्य में कितना अग्रसर हुआ है वह उस के सत् गुण, और उसके वहिर्भक्ति-लक्षणों से ही जाना जा-सकता है ॥

सम्मान वहुमान प्रीति विरहेतर विचिकित्सा महिम-ख्याति तदर्थ प्राण स्थान तदीयता सर्व तद् भावा प्रातिकूल्यादीनिच स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्॥४४॥

सन्मान, बहुमान, प्रीति, विरह, इतर विचिकित्सा, महिमा कीर्तन, प्रियतम के अर्थ जीना, तदीयता, तद्भाव, अप्रातिकूल्य इत्यादि प्रेम के भेद हैं ॥ ४४ ॥

अब महर्षि सूत्रकार भक्तों के भेद वर्णन कर रहे हैं। ईश्वर में सन्मान बुद्धि करके उनके साथ प्रीति करने का नाम सन्मान भक्ति है, पांडव कुल तिलक श्री अर्जुन का चरित्र सन्मान भक्ति का उदाहरण है । भगवत् नाम के किसी पुरुष का नाम लेने से अथवा और कोई बहिः पदार्थ के देखने से अथवा सुनने से साधक के हृदय में जो भक्ति का आविर्भाव होता है उसे बहुमान भक्ति कहते हैं; बालक

भक्त श्रीप्रह्लाद "क" शब्द को देखकर ही कृष्ण-प्रेम में उन्मत्त होगये थे यही बहुमान भक्ति का उदाहरण है। विदुर की प्रीति और ब्रजगोपिका गणों का विरह जगत् प्रसिद्ध है। अतिआग्रह पूर्व्वक औरों की अनपेक्षा करके भगवान् की अ-पेक्षा करने का नाम ही इतर विचिकित्सा भक्ति है; चित्रकेतु और उपमन्यु आदि इस भक्ति के उदाहरण स्थल हैं। भगवत् महिमा कीर्तनसे ही जिन को आनन्द आता हो वही महिमा-प्रचारक भक्त हैं; महिमा कीर्तन के उदाहरण में महर्षि श्रीवेद-व्यासजी से अधिक और किसका उदाहरण होगा। भक्त-श्रेष्ठ हनुमान का जीवन श्रीभगवान् के अर्थही है इस कारण वेही तदर्थ प्राणधारक भक्त हैं। नृपश्रेष्ठ बलिराजा की तदी-यता और महर्षि नारदजी का तद्भाव पुराणों में प्रसिद्ध है। और बीर शिरोमणि भीष्मपितामह और धर्म्मराज महा-राज युधिष्ठिर अप्रातिकूल्यभक्त थे ऐसा शास्त्रों में वर्णन है। भगवत्प्रेम एकरूप होने पर भी साधक की प्रकृति स्वतंत्र स्वतंत्र होने के कारण जिसे जैसा भाता है वह भक्त वैसे ही अपने हृदयनाथ से प्रीति करने लगता है॥

द्वेषादयस्तु नैवं ॥ ४५ ॥

द्वेष बुद्धि आदि से ऐसा नहीं होता ॥ ४५ ॥

ईश्वर में द्वेष बुद्धि रहने से कदापि सद्गति होने की सम्भाव-ना नहीं; द्वेष के कारण से ही शिशुपाल आदिको क्लेशही पाना पड़ा। जब यह प्रमाण होचुका है कि सब साधनों का अन्त ईश्वर की पराभक्ति है तो यह स्वतः सिद्ध ही है कि ईश्वर में द्वेष रहने से नतो भगवत् भक्ति प्रातिकारीसाधन बन-सकेगा और न भगवत् में साधारण प्रीति रूप गौणीभक्ति का अधिकारी ही वह हो सकेगा। इस कारण भगवत् द्वेष-

कारी को क्लेश ही क्लेश है; उस को आनन्द प्राप्ति की कोई भी सम्भावना नहीं ॥

तद्वाक्यशेषात्प्रादुर्भावेष्वपिसा ॥ ४६ ॥

यह वाक्य अनन्त से लेकर अवतार आदियों में भी देखने में आता है४६

मत्स्यादि अवतार में शिवादि का, गुण स्वरूप में संकर्षणादि का, और इसी प्रकार और और नाना स्थानों में पराभक्ति देखने में आती है । श्रीभगवान् में प्रीति से भक्ति की प्राप्ति द्वारा परमानन्द का उदय और उन में अप्रीति रखने से महा क्लेशों की प्राप्ति का उदाहरण पुराण आदि शास्त्रों में अनन्त ही देख पड़ते हैं; इस कारण इस विषय में और कुछ अधिक कहने की आवश्यकता ही नहीं ॥

जन्मकर्म्मविदश्चाजन्मशब्दात् ॥ ४७ ॥

अजन्म शब्द से जन्म कर्म्म रूप ज्ञान की सिद्धि हुआ करती है॥४७॥

जो साधक अजन्म रूप भगवान् के जन्म कर्म्म से विदित होजाते हैं उन को फिर जन्म ग्रहण करने की आवश्यक्ता नहीं पड़ती । श्रीमद्भगवतगीता में श्रीभगवान् ने निजमुख से ही कहा है कि,—"जन्मकर्मंच मे दिव्य मेवं यो वेत्तितत्त्वतः । त्यक्त्वादेहंपुनर्जन्म नैतिमामेतिसोऽर्ज्जुन ॥" अर्थात् हेअर्ज्जुन ! मैंसत् चित् आनन्द रूप हूं; मैं अज और नित्य होने पर भी लोकउपकारार्थ माया कल्पित देह धारण करके वेद विहित धर्म्म की मर्यादा रक्षा किया करता हूं मेरा जन्म, कर्म्म, और मरण यह सब ही अलौकिक है; जो मेरी इस अलौकिक लीला को भलीभांति जानकर मुझे सदा ही स्वतंत्र, निर्लिप्त और अकर्तारूप समझने लगते हैं वेही इस संसार रूप बंधन से मुक्त होजाते हैं । श्रीभगवान् निर्लिप्त और अक्रिय होनेपर भी केवल जीव के हितार्थ

ही देह परिग्रह किया करते हैं; लोक शिक्षार्थ और जीव कल्याणार्थ वे सब कुछ ही करते हैं परन्तु वे किसी कार्य्य में भी लिप्त नहीं होते। जो साधक अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा श्रीभगवान् की कृपा से श्रीभगवान् का अलौकिक रूप और श्रीभगवान् की अद्भुत शक्तियां यथावत् जान लेता है उसी को श्रीभगवान् के दर्शन भी होजाते हैं और जीव को आत्म-साक्षात् रूप भगवत्-दर्शन जब होजाता है तब वह स्वतः ही जन्म मृत्यु रूप बन्धन से छूटकर भगवत्-भाव में लय होता हुआ कैवल्यपद को प्राप्त कर लेता है॥

तच्चदिव्यंस्वशक्तिमात्रोद्भवात् ॥ ४८ ॥

उनका जन्म कर्म्म आदि सबही दिव्य और असाधारण है; उनही की शक्ति से वे नानारूप दिखाई पड़ते हैं ॥ ४८ ॥

जीवगण जिस प्रकार कर्म्म-फलरूप अदृष्ट से बंधे हुए जन्म मरण आदि आवागमन के आधीन होजाते हैं, श्रीभगवान् का आविर्भाव और तिरोभाव उस प्रकार से नहीं हुआ करता है। वह सर्व्वशक्तिमान् भगवान् जब आवश्यकता समझते हैं तबही अधर्म्म का नाश और धर्म्म की रक्षा के अर्थ अपनी लीलामयी प्रकृति को अवलम्बन करके उस समय-उपयोगी देह को धारण कर साधु गणों की रक्षा किया करते हैं; पुनः अपनी ही इच्छासे अपने मायिक देहको त्याग करके अपने स्वरूप में विराजने लगते हैं; वह सच्चिदानन्द रूपी भगवान् सदा एकरूप और अज होने पर भी अपनी ही माया से अपने नाना प्रकार रूप को सृष्टि के कल्याणार्थ दिखाया करते हैं। वे प्रकृति-जयी और असाधारण-शक्ति-युक्त हैं ऐसा जब निश्चय ही है तब उनकी अवतारणा में कोई भी संदेह

नहीं हो सकता; परन्तु बात इतनी ही है कि उनकी अलौकिक क्रिया और अपार शक्ति जीव बुद्धि से अतीत है इसकारण वह साधारण बुद्धिगम्य विषय नहीं है॥

मुख्यंतस्यहिकारुण्य ॥ ४९ ॥

उनकी करुणा ही उनके जन्म आदिका प्रधान कारण है॥ ४९॥

अब यदि जिज्ञासु गणों में यह सन्देह हो कि जन्म लेने की उनको आवश्यकता क्या है? ऐसे प्रश्नों के उत्तर में महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि जीव पर उनकी करुणा ही उनके ऐसे अवतार आदि देह धारण का कारण है। सर्वशक्तिमान् परम कारुणिक श्रीभगवान् पाप पुण्य का फल रूप सुख दुःख भोगने के अर्थ कर्म्म वश होकर जन्म ग्रहण नहीं किया करते, क्योंकि उनकी माया उनके आधीन ही है; जीव जैसे माया के आधीन है वे वैसे नहीं हैं। जब तक उनकी विभूति द्वारा जगत् का कार्य्य चलता रहता है और धर्म्मकी रक्षा होती रहती है तब तक उनकी विशेष करुणा प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं रहती; परन्तु जब पाप-भार से पृथिवी भाराक्रांत हो डगमगाने लगती है; धर्म्म की मर्य्यादा को छोड़ कर जब अधार्मिक असाधुगण धार्म्मिक साधुगणों को अति क्लेश देनेमें प्रवृत्त होजाते हैं; जब साधारण शक्ति द्वारा अधर्म्म का निराकरण नहीं हो सकता; तब ही दयामय श्रीभगवान् से रहा नहीं जाता, और वे तब भक्त जीवों पर कृपावश हो आविर्भूत होकर अपनी ही प्रचारित धर्म्म मर्य्यादा की रक्षा किया करते हैं॥

प्राणित्वान्नविभूतिषु ॥ ५० ॥

जीव होने के कारण उनके विभूतिगण भक्ति दान नहीं करसकते ॥ ५० ॥

एकमात्र श्री भगवान् ही भक्त को भक्ति दान करसक्ते हैं; ब्राह्मण, राजा आदि उनकी विभूति हैं इस में कोई सन्देह नहीं, और अपनी विभूति शक्ति के अनुसार वे बहुतसी बातें देसक्ते हैं, परन्तु वे जन्म–मरण–शील जीव ही हैं; इस कारण वे भगवत् शक्ति का पूर्ण प्रकाश रूप भक्ति दान नहीं करसक्ते, वे आप ही जैवी मलीनता को धारण किये हुए हैं भक्ति रूप प्रकाश देने को कहां से लावेंगे । मायातीत महामाया महावैष्णवीशक्ति ही भक्ति रूपिणी हैं, विभूति के साथ उनकी स्थिति कहाँ; पूर्ण भगवत् रूप में ही वे नित्य विराजा करती हैं । इस सूत्र से और भी तात्पर्य्य है कि विभूति द्वारा केवल साधारण कार्य्य ही निकल सकता हैं, परन्तु असाधारण और अलौकिक कार्य्य के करने में उनको स्वयं ही क्रिया करनी पड़ती है ॥

द्यूत राजसेवयोः प्रतिषेधात् ॥ ५१ ॥

द्यूत क्रीड़ा और राज सेवा निषेध के कारण हैं ॥ ५१ ॥

श्रीमद्भगवतगीता आदि भगवत् वाक्यों द्वारा द्यूत-क्रीड़ा अर्थात् जुआ खेलना और राजा दोनों ईश्वर की विभूति हैं । परन्तु धर्म्मशास्त्रों में द्यूतक्रीड़ा को बहुत ही वर्जित किया है, और वह अधर्म्म है ऐसा वर्णन किया है; और उसी प्रकार मुमुक्षुओं के लिये राजसेवा को भी हानि-कारक कहा है । ईश्वर ही सर्वशक्तिमान् और सब से बड़े हैं; परन्तु छुटाई बड़ाई के विचार से प्रत्येक जाति में भी श्रेष्ठतर को ईश्वर विभूति कह के वर्णन किया गया है;

सब वर्णों में से ब्राह्मण वर्ण श्रेष्ठ होने के कारण ही ईश्वर विभूति है, इसी कारण मनुष्यों में राजा शक्तिवान् होने के कारण राजा भी ईश्वर विभूति समझा गया है। परन्तु ईश्वर और ईश्वर विभूति में बहुत ही भेद है; जगत् (संसार) में छुटाई बड़ाई के क्रम से विभूति की सृष्टि हुई है और इन विभूतियों की शक्ति जैवी होनेके कारण नियमित ही हुआ करती है; किन्तु ईश्वर सृष्टि से अतीत है, और सृष्टि कारिणी शक्ति उन के आधीन होने से वे सर्वशक्तिमान् हैं। इस कारण विभूतियों से नतो भक्ति लाभ की आशा है और न सृष्टि के रक्षार्थ बृहत् कार्य्य होने की सम्भावनाही है ॥

वासुदेवेप्रीतिंचेन्नआकारमात्रत्वात् ॥ ५२ ॥

वासुदेव अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र में विभूति की आशंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये पूर्ण स्वरूप आनन्द के आकार हैं ॥ ५२ ॥

अब पूर्व्व विचार को स्पष्ट करने के अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि श्रीकृष्णचन्द्र आदि अवतारों का देह जीवदेह नहीं हैं, वे सच्चिदानन्द विग्रह रूप हैं; केवल जीव के हितार्थ अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा श्रीकृष्ण आदि रूप से स्वयं श्री भगवान् ही आविर्भाव हुए थे। इस कारण श्रीकृष्ण आदि अवतार को विभूति समझना उचित नहीं है। इस सूत्र से यही तात्पर्य्य है कि बिभूति कुछ और पदार्थ है; परन्तु अवतार से उन का साक्षात् सम्बन्ध है। अवतार भगवत् रूप ही है ॥

प्रत्यभिज्ञानाच्च ॥ ५३ ॥

यह शास्त्र ज्ञान से भी प्रतिपादित हो चुका है ॥ ५३ ॥

पूर्व सूत्रों में युक्ति द्वारा अवतारवाद सिद्ध करके अब

महर्षि सूत्रकार आप्त प्रमाण द्वारा उस विचार की दृढ़ता स्थापन कर रहे हैं। और कह रहे हैं कि ईश्वर-अवतारवाद को नाना आचार्य्यों ने ही अपने नाना ग्रन्थों में प्रतिपन्न किया है; इस कारण अब विचार में कोई भी सन्देह नहीं रहा। श्रीमद्भगवतगीता, श्री रामगीता, श्रीभगवतीगीता आदि गीताओं में, महाभारत और रामायण आदि इतिहासों में और ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, लिङ्ग, गरुड़, नारद, भागवत, अग्नि, स्कंद, भविष्यत, ब्रह्मवैवर्त, मार्कंडेय, वामन, वाराह, मत्स्य, कूर्म्म, और ब्रह्माण्ड आदि पुराणों में भगवत् अवतारों का विस्तारित वर्णन नाना आचार्य्य गण द्वारा कीर्तन हो चुका है। जब प्राचीन सब आचार्य्यगण ने ही एक वाक्य होकर इस विचार का समर्थन किया है तब सन्देह करनेका स्थान ही नहीं रहा॥

वृष्णिषुश्रेष्ठपनैतत्॥ ५४॥

यह वृष्णिवंशके मर्य्यादा बढ़ानेके अर्थ है॥ ५४॥

कहीं कहीं श्रीकृष्णचन्द्र का नाम विभूतियों में आताहै ऐसा देखकर यदि जिज्ञासुगण सन्देह करने लगें; अथवा जब स्वयं श्रीभगवान् अपने आपको ही श्रीमद्भगवतगीतामें विभूति कहरहे हैं ऐसा देखते हुए जिज्ञासुगण कदाचित् शंकायुक्त हों; इसकारण महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि वैसा कहना वृष्णि वंश के मर्य्यादा बढ़ाने के अर्थ ही है। अर्थात् वृष्णि वंश में श्रीकृष्णचन्द्र को विभूति कहने का तात्पर्य्य यह है कि वह वंश इतना श्रेष्ठ है कि जिसमें साक्षात् श्रीभगवान्‌जी मनुष्य जन्म ग्रहणकर उस कुलके शिरोमणिरूपेण प्रकट हुए थें। वास्तव में वासुदेव विभूति

नहीं हो सकते; वे साक्षात् ईश्वर अवतार ही हैं इस में कोई भी सन्देह नहीं । द्वितीयतः श्रीमद्भगवद्गीता में जैसे उन्होंने विभूतियों में अपने आप को गिनाया है, वैसेही उन्होंने अपने आपको सच्चिदानन्दमय परमात्मा कहके भी तो सिद्ध किया है इसकारण उनके वाक्य द्वारा ही अपने इस विचार की सिद्धि होती है ॥

एवं प्रसिद्धेषु ॥ ५५ ॥

और और प्रसिद्ध अवतारों में भी ऐसा ही है ॥ ५५ ॥

पूर्व सूत्रों में केवल श्री कृष्णचन्द्र का नाम देख कर यदि जिज्ञासुगण विचलित होने लगें और यह शंका करने लगें कि सूत्रकार ने केवल श्रीकृष्णचन्द्र का नाम क्यों लिखा है ? क्या वेही पूर्ण अवतार थे ? ऐसे प्रश्नों के उत्तर में जिज्ञासुओं के हृदय की शंका दूर करने के अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि जैसा श्रीकृष्णचन्द्र का नाम लिया गया वैसा ही श्रीरामचन्द्र आदि प्रसिद्ध अवतारों को भी समझना उचित है । पूर्व सूत्रों में केवल विचार किया गया है इसकारण ही श्री वासुदेव का नाम आया है, परन्तु वह उदाहरण रूपेण ही आया है; तात्पर्य्य यह है कि जैसा श्रीकृष्णचन्द्र को विभूति समझने में दोष होगा वैसे ही और और प्रसिद्ध अवतारों में भी विभूति-ज्ञान करने से दूषण ही है । विभूति जीव-जगत् का व्यापार है, परन्तु अवतार साक्षात् ईश्वर रूप ही हैं। इस सूत्र में "प्रसिद्ध" शब्द का अर्थ पूर्णअवतार से ही है; सृष्टि में आवश्यक कार्य्यों की गुरुता के अनुसार बहुबार श्री भगवान् ने पूर्णकला-विशिष्ट होकर अवतार ग्रहण किया है; यह प्रसिद्ध शब्द यहां पूर्णता वाचक है । पूर्ण

अवतार के अनन्तर अंशरूपेण भी बहुवार श्रीभगवान् जन्म ग्रहण किया करते हैं वे अंशअवतार कहाते हैं। और इसके सिवाय सदा सब कालों में ही वे मुक्तात्मा महापुरुषों के हृदय में आविर्भूत रहकर भी संसार का कल्याण किया करते हैं ॥

द्वितीयाह्निकः ।

भक्त्याभजनोपसंहाराद्गौण्यापरायैतद्धेतुत्वात् ॥५६॥

भक्ति शब्द यहां अब गौणीभक्ति का प्रतिपादक है; भजन और सेवा ही गौणीभक्ति है, और यह गौणीभक्ति पराभक्ति की भीति रूप है ॥ ५६ ॥

अब महर्षि सूत्रकार पराभक्ति अर्थात् यथार्थ भक्ति की सहायकारी गौणी-भक्ति का वर्णन कर रहे हैं। और कह रहे हैं कि अब यहां भक्ति शब्द को गौणीभक्ति का वाचक समझना उचित है। भगवत्-भजन और भगवत्-मूर्ति आदि की सेवा इत्यादि ही को गौणीभक्ति कहते हैं। भक्ति-मार्ग के साधक को जो नाना विघ्नों की सम्भावना रहती है गौणीभक्ति रूप साधन से उन सब विघ्नों का नाश होजाताहै; और क्रमशः साधक भक्ति-मार्ग में उन्नत होता हुआ पराभक्ति का अधिकारी होजाता है, भक्तों को यह सहायकारी है इसकारण इसको आचार्य्य गणों ने भक्ति की भित्ति कहके वर्णन किया है। प्रथम अधिकारियों के लिये गौणी-भक्ति ही उपयोगी है, और सकल प्रकार के उपासकों को यह गौणी भक्ति ही सहायक रूप होकर क्रमशः भक्ति-राज्य में उनको पहुंचायकर मुक्तिपद का अधिकार दिला देती है। जैसे "क" आदि वर्ण ही आदि रूप होकर

विद्यार्थी गणों के अर्थ ब्रह्मज्ञान शिक्षा में प्रथम सहायक होते हैं; विद्यार्थी गण प्रथम में वर्ण, वर्ण से शब्द, शब्द से शब्दार्थ, शब्दार्थ से भाव-बोध और तद्पश्चात् वेद-ज्ञान की प्राप्ति द्वारा परम कल्याण को प्राप्त करते हैं; उसी प्रकार गौणी-भक्ति ही भक्त साधकों के अर्थ प्रथम और प्रधान अवलम्बन है ॥

रागार्थंप्रकीर्तिसाहचर्य्याच्चेतरेषाम् ॥ ५७ ॥

नमस्कार और नाम कीर्तन आदि अनुराग के अर्थ हैं ॥ ५७ ॥

अब गौणीभक्ति का साधन वर्णन कर रहे हैं। भगवान् की स्तुति करना, उनके चरणों में बारंबार प्रणाम करना, उनका नाम और गुण गान करना, उनकी लीला-भूमि तीर्थ आदि दर्शन करना, उनकी मूर्ति को अङ्गराग, नैवेद्य, आरती, आदि से पूजा करना, इत्यादि सब ही गौणी भक्ति के अन्तर्गत हैं; और गौणी भक्ति से ही अनुराग की वृद्धि होती रहती है; इस प्रकार क्रमशः साधक भगवत्-कृपा से पराभक्ति का अधिकारी होजाता है । यह सूत्रोक्त वर्णन ही गौणीभक्ति का लक्षण और साधन अङ्ग है ॥

अन्तरालेतुशेषाः स्युरुपास्यादौचकांडत्वात् ॥ ५८ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस उपासनाकांड रूप गौणीभक्ति का वर्णन है ॥ ५८ ॥

अब महर्षि सूत्रकार पुनः पूर्व्व विचारका आप्त प्रमाण दे र-हेहैं; और कह रहेहैं कि श्रीमद्भगवतगीता के नवम अध्या-य में श्रीभगवान् ने निज मुख से ही गौणीभक्ति रूप भक्ति-साधन का वर्णन किया है यथा, "सततं कीर्तयंतोमां यतं तश्च दृढ़व्रता. । नमस्यंतश्चमांभक्त्या नित्ययुक्ताउपासते ॥ ज्ञानयज्ञेनचाप्यन्ये यजंतोमामुपासते । एकत्वेन पृथक्त्वे-

न बहुधा विश्वतो मुखम्॥" अर्थात् कोई कोई भक्त मेरा गुण कीर्तन करके, कोई कोई दृढ़ नियम युक्त तपस्या करके, कोई कोई भक्ति पूर्वक मुझे प्रणाम करके कोई कोई सर्वदा एक मन होकर ध्यान करके, कोई ज्ञान यज्ञ द्वारा मेरी उपासना करके, कोई कोई अहंकार रहित होकर दास रूप से मेरी पूजा करके, और कोई कोई भक्त मुझे सर्वात्मक जान के नानारूप से मेरी उपासना किया करते हैं ॥

ताभ्यःपावित्र्यमुपक्रमात् ॥ ५९ ॥

गौणीभक्ति के द्वारा पवित्रता लाभ होती है ॥ ५९ ॥

सूत्रकार महर्षि पूर्व्व सूत्रोंसे गौणी भक्ति का रूप वर्णन करके अब गौणी भक्ति का फल कहते हैं। श्रद्धापूर्व्वक भगवत्-सेवा और भगवत् नाम कीर्तन आदि रूप गौणी-भक्ति का साधन करते करते साधक के अन्तःकरण की वृत्तियां पवित्र होजाती हैं; और यह अन्तःकरण की शुद्धि ही गौणी-भक्ति का फल है । जब अन्तःकरण शुद्ध होजाता है तद्-पश्चात् ही साधक निर्मल पराभक्ति का अधिकारी हो सकता है । जिस प्रकार कंचुकी भृङ्ग जब तैलपाई कीट को पकड़ कर रखता है तब क्रमशः वह तैलपाई कीट कंचुकी भृङ्ग का ध्यान करते करते उस के रूप को प्राप्त करलेता है; उसी प्रकार साधक गौणी-भक्ति साधन द्वारा भगवन्नाम संकीर्तन और भगवद्गुणों का मनन करते २ क्रमशः शुद्ध अन्तःकरण होकर भगवत् दर्शन द्वारा मुक्ति-पद को प्राप्त कर लेता है ॥

तासुप्रधानयोगात्फलाऽऽधिक्यमेके ॥६०॥

कोई कोई आचार्य्य गौणी-भक्ति की प्रधानता के कारण अधिक फल मानते हैं ॥ ६० ॥

अमृत रूप और मुक्ति रूप परा-भक्ति के प्राप्त करने में

गौणी-भक्ति ही को प्रधान सहायक मान कर कोई कोई आचार्य्य ऐसा कहते हैं कि जब गौणी भक्ति की सहायता से परा-भक्ति लाभ होती है तो गौणी-भक्ति ही प्रधान है। जैसे संसार का आदि कारण बालक वृद्ध से अधिकतर प्रिय समझा जाता है, उसी साधारण विचार के अनुसार कारण सम्बन्ध से गौणी-भक्ति की भी प्रशंसा कोई २ आचार्य्य गण किया करते हैं ॥

नाम्नेति जैमिनिः सम्भवात् ॥ ६१ ॥

आचार्य्य जैमिनि उसको प्रधान नहीं कहते; और और स्थानों में उसका नामही लिया गयाहै ॥ ६१ ॥

गौणी भक्ति को प्रधान मानने वाले आचार्य्यों के मत को देखकर यदि कोई जिज्ञासु विचलित होजायें इस कारण सूत्रकार महर्षि ने इस सूत्र का आविर्भाव किया। कर्म्म-कांड, ज्ञान कांड और भक्ति कांड; यथा नियम से यह तीन प्रकार का अधिकार साधक को हुआ करता है; अर्थात् कर्म्म-कांड साधन से चित्त निर्मल होकर ज्ञान की प्राप्ति होती है, और ईश्वर ज्ञान से ही पराभक्ति लाभ होती है। इन तीनों अधिकारों में से प्रथम अधिकार कर्म्म कांड है; कर्म्म कांड के प्रधान प्रवर्त्तकों में महर्षि जैमिनि अग्रगण्य हैं; इस कारण यहां उनका मत लिखा गया, कि वे गौणी-भक्ति को प्रधान नहीं कहते हैं; गौणी भक्ति अपने नामके अनुसार गौणही है। और यदि ऐसा सन्देह हो कि श्रीमद्भगवत्गीता आदि शास्त्रों में परा-भक्ति के साथ गौणी-भक्ति का मेल कैसे हुआ? इसके उत्तर में महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि वह वर्णन गौणी-भक्ति की श्रेष्ठता दिखाने के अर्थ नहीं है, परन्तु भक्ति-भेद की संख्या दिखाने के अर्थ ही है। इस सूत्र से महर्षि

सूत्रकार का यही तात्पर्य्य है कि भक्ति शब्द वाच्य तो पूर्व कथित परा-भक्ति ही हो सकती है; और यह गौणी-भक्ति अपने नाम के अनुसार निम्न अधिकार का पदार्थ है, परन्तु वह प्रथम अधिकारियों के लिये उपकारी है इसमें कोई भी सन्देह नहीं ॥

अत्राङ्गप्रयोगानांयथाकालसम्भवोगृहादिवत् ॥ ६२ ॥

इस स्थानपर गृह आदिका अंगस्थानके नाईं यथा काल में अंगप्रयोग-मात्र समझना उचित है ॥ ६२ ॥

अब पूर्व विचार को और भी स्पष्ट करने के अर्थ महर्षि सूत्रकारजी ने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। और कहते हैं कि, जिस प्रकार कोई मनुष्य गृह, अट्टालिका आदि बनाना चाहे, तो पहले उसके लिये भित्ति स्थापन करेगा अर्थात नींव रक्खेगा, पुनः उस नींव पर गृह निर्माण होता हुआ अन्त में एक बृहत् अट्टालिका बन जायगा। उसी प्रकार सूत्रकार महर्षि कहते हैं कि जैसे गृह बनने से पहले भींति स्थापन कीजाती है वैसेही गौणी भक्ति साधन करते करते चित्त निर्मल होकर क्रमशः पराभक्ति का उदय होजाता है यदि च गौणीभक्ति प्रधान नहीं है परन्तु वह पराभक्ति का पूर्व कारण रूप है इस में कोई सन्देह नहीं ॥

ईश्वरतुष्टेरेकोऽपिबली ॥ ६३ ॥

ईश्वर के प्रीत्यर्थ एकमात्र साधन भी बलवान् है ॥ ६३ ॥

गौणीभक्ति का रूप और फल आदि वर्णन करके अब सूत्रकार महर्षि गौणी-भक्ति द्वारा क्रमोन्नति का नियम वर्णन करते हैं। यदि साधक ऐसा अभ्यास किया करे कि जो कुछ कर्म्म वह करे उसको मन में अभ्यास करता रहे कि यह सब ईश्वर प्रीत्यर्थ ही कर रहा हूं, अर्थात् अपना

स्वार्थ उन कर्म्मों से दूर करके भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म्मों का साधन करता रहे, तो साधक की अवश्य क्रमोन्नति हो जायगी। भगवत्प्रीत्यर्थ साधन अर्थात् निष्काम कर्म्म का अभ्यास करने से अवश्य साधक पराभक्ति का अधिकारी होजाता है॥

अवन्धोऽर्पणस्य मुखम्॥ ६४॥

अर्पण से बन्धन मुक्त होजाता है॥ ६४॥

कर्म्म फल त्याग का अभ्यास करते करते क्रमशः साधक निष्काम होकर बन्धनमुक्त होजाता है; कर्म्म के फल ही ने जीवों को पाप पुण्य, सुख दुःख रूप फन्दे में फँसा रक्खा है; जब साधक अपने कर्म्मों का फल ईश्वर में अर्पण कर देता है तो फिर वह कर्म्म दग्धबीज के नाईं और कोई नया प्रारब्ध सृष्ट नहीं कर सकता; और जब नया प्रारब्ध सृष्ट नहीं होगा तब आपही आप जीव मुक्तिपद को प्राप्त होजायगा। इस विचार को और रीतिपर भी समझ सकते हैं कि अहंकार ही जीव को कर्म्म बन्धन में बांध रहा है, क्योंकि जीव सदा अपनी योग्यता पर भरोसा करके ऐसा मानने लगता है कि मैं अपने पुरुषार्थ से ही दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति कर सकताहूं; यह आत्म निर्भर रूपी अहंकार ही जीव को त्रिताप रूपी दुःख प्राप्त कराया करता है। परन्तु जब गौणीभक्ति साधन द्वारा जीव निरहंकार होता हुआ निष्काम कर्म्म अभ्यास करता रहेगा; और यह समझता रहेगा कि मेरे किये हुए कर्म्मों से मेरा कोई भी संबन्ध नहीं, मैं जो कुछ करताहूं वह भगवत् प्रीत्यर्थ ही करताहूं; तब क्रमशः आपही आप माया बीज अहंकार जीव के हृदय से दूरीभूत होजायगा, और क्रमशः उस का चित्त

निर्मल होता हुआ मुक्ति फल दायक पराभक्ति को प्राप्त कर लेगा । श्रीमद्भगवत्‌गीता में श्रीभगवान् ने अर्जुन जी को इस निष्काम कर्म्म द्वारा कैवल्यपद प्राप्त करने का उपदेश बिस्तारित रूपेण दिया है ॥

ध्याननियमस्तुदृष्टसौकर्यात् ॥ ६५ ॥

जिस भाव के ध्यान करने से नेत्र तृप्त होते हों उसी भाव के चिंतन करने का नाम ध्यान है ॥ ६५ ॥

श्रीभगवान् के अनन्त रूपों मेंसे जिस रूप विशेष में साधक का मन स्वभाव से ही लगजावे उस ही का चिन्तन करना उचित है, और वही रूप चिन्तन ही ध्यान है । बल से कोई मूर्ति विशेष का ध्यान करने से साधक को विशेष फल नहीं मिलता है; और इस ही रुचि विरोध के कारण सनातनधर्म्म में पञ्च उपासना और इन पांच देवताओं में से प्रत्येक के नाना रूप कहे हैं। अनन्त रूप धारी भगवान् के जिस रूप के दर्शन करने से साधक के वहिर्नेत्र तृप्त होते हों, और जौन सा रूप चिन्तन करने से उस के अन्तः नेत्र शान्ति प्राप्त करते हों उसी रूप का ध्यान करना ही उस साधक के लिये बिधि है। जब यह संसार पंचभौतिक है, जब यह संसार त्रिगुण की लीला भूमि है, तब सब जीवों की प्रवृत्ति और प्रकृति एक रूप नहीं होसकती; और इसी प्रकृति और प्रवृत्ति विचित्रता के कारण और प्रकृति प्रायः पंचधा होने के कारण पांच प्रकार की उपासना पद्धति की सृष्टि हुई है । और तद्पश्चात् प्रवृत्ति विचित्रता के कारण प्रत्येक देवता के अनेक रूप शास्त्रों में वर्णित किये गये हैं । साधक जब अपने प्रियतम जगन्नाथ श्रीभगवान् को चिन्तन करना चाहे तब उसको उचित है कि, अपनी प्रवृत्ति और प्रकृति के

अनुसार उस की रुचि जिस देवता अर्थात् श्रीभगवान् के जिस भाव में हो उसी मूर्ति का ध्यान करे; अर्थात् पंच उपासनाओंमें से उसी उपासना का अवलम्बन करे। सनातन रीति यही है कि, श्रीगुरुदेव शिष्यको उस की प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुसारही उपासना की दीक्षा दिया करते हैं । योगिराज महर्षि पतञ्जलिजी ने अपने योग दर्शन में इस कारण ही कहा है कि, "अथाभिमत ध्यानाद्वा" अर्थात् अभिमत ध्यान द्वारा भी साधक क्रमशः कैवल्यपद की ओर अग्रेसर हो सकता है ॥

तद्यजिः पूजायामितरेषां नैवम् ॥ ६६ ॥

भगवत्पूजा के विना और प्रकार अनुष्ठान को यजन कहते हैं ॥६६॥

एकमात्र ईश्वर की उपासना के सिवाय और यज्ञ, व्रत और नाना फलदायक देवताओं की उपासना आदि जितने कर्म्म हैं उनको यजन कहते हैं । केवल भगवत् उपासना से ही जीव क्रमशः उन्नत होता हुआ मुक्तिपद को प्राप्त करलेता है; परन्तु भगवत् उपासना के सिवाय जो और नाना प्रकार के यज्ञ, व्रत और सकाम पूजा आदि हैं वे सब बन्धन के कारण ही हैं । यदिच यज्ञ और व्रत आदि सकाम कर्म्मों से जीव को स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है, और जीव क्रमशः गुण की उन्नति करता है; अर्थात् तम गुण से रज गुण, और रज गुण से सत्त्वगुण की ओर अग्रसर होता है; तत्राच उन के साधन द्वारा वह बन्धन अवस्था में ही रहता है । जैसे लोहमय शृंखल और सुवर्णमय शृंखल दोनों बन्धनकारी शृंखल ही हैं, अर्थात् मनुष्य के पैर में चाहे लोहे की शृंखल डालो और चाहे सुवर्णमय शृंखल डालो दोनों से ही वह बन्धन

को प्राप्त हो जायगा; वैसे ही सकाम कर्म्म समूह कितनेही उन्नत हों वे जीवगणों को बाधा ही करते हैं। इस सूत्र से यही तात्पर्य्य है कि भगवत् उपासना के सिवाय और सब सकाम कर्म्म ही यजन कहाते हैं और केवल एक मात्र भगवत् उपासना द्वारा ही जीव मुक्तिपद प्राप्त कर-सक्ता है॥

पादोदकं तु पाद्यमव्याप्ते ॥ ६७ ॥

भगवत् मूर्त्ति के स्नान जलको ही भगवत् पादोदक सम-झना उचित है॥ ६७ ॥

अब महर्षि सूत्रकार गौणी भक्ति के और और अंगों का वर्णन कर रहे हैं। और कहते हैं कि जैसे माता पिता का चरणोदक और गुरु चरणोदक श्रद्धा वृद्धि करने के अर्थ बहुत ही उपकारी है; वैसे ही भगवत् मूर्त्तिका चरणोदक अर्थात् स्नानजल ग्रहण करने से भगवत् भक्तिकी स्फूर्ति होती है, भावना सेही भगवत् विग्रह में सर्वव्यापी भगवान् का आविर्भाव होजाता है, तो इस कारण विग्रह स्नान जलही भगवत् चरणोदक है, इसमें सन्देह नहीं॥

स्वयमर्पितं ग्राह्यमविशेषात् ॥ ६८ ॥

अपनी समर्पण की हुई वस्तु ग्रहण करना उचित है क्योंकि उसमें कोई भी विशेषता नहीं है॥ ६८ ॥

श्रीभगवान् विग्रह को जब कोई निवेदन कर दिया जाता है तो फिर उस वस्तु से अपना सम्बन्ध नहीं रहता; क्यों कि वह तब भगवत्प्रसाद होजाता है। "मेरी वस्तु मैं कैसे ग्रहण करसकताहूं" ऐसा विचार उस भगवत् प्रसाद के साथ करना अनुचित है; क्योंकि जब तक वस्तु निवे-दन नहीं की गई थी तब ही तक उस वस्तु से साधक का

संबंध समझा जा सकता है, परन्तु भगवत सेवा के अर्थ निवेदन कर देने के अनन्तर उस से और कोई भी सम्बन्ध नहीं रह जाता है; और तब उन निवेदित वस्तुओं से जैसे और भक्तों का सम्बन्ध है वैसे ही निवेदनकर्ता का भी संबन्ध हो जाता है। इसकारण अपनी निवेदन की हुई वस्तु को भगवत् प्रसाद समझ कर ग्रहण करना उचित है॥

निमित्तगुणाऽनपेक्षणादपराधेषु व्यवस्था॥ ६९॥

निमित्त, गुण, और अनपेक्षा के अनुसार से अपराध निर्णय किया गया है॥ ६९॥

भगवत् सेवा करने में साधक जो कुछ अपराध कर सक्ता है इन सबों को तीन भाग में विभक्त किया है। प्रथम प्रकार का अपराध वह कहाता है कि जो अनिच्छा से एक एक होजाय, उसको निमित्त अपराध कहते हैं। दूसरे प्रकार का अपराध वह है कि जो साधक के स्वभाव दोष से प्रायः ही हुआ करे, इसको गुण अपराध कहते हैं और तृतीय प्रकार का अपराध उसको समझना चाहिये कि जो साधक के भ्रमसे होगया हो, इस को अनपेक्षा अपराध कहते हैं। प्रथम अपराध से दूसरे प्रकार का अपराध, और दूसरे से तीसरे प्रकार का अपराध अधिक दोषदायक है। अपराध तमगुण के कारण हुआ करते हैं; इस कारण साधक को उचित है कि सदा सावधान होकर युक्त चित्त से भगवत् सेवा किया करें॥

पत्रादेर्दानमन्यथा हि वैशिष्ट्यम्॥ ७०॥

पत्र, पुष्प आदि दानमें एकही फल है॥ ७०॥

श्रीभगवान् को चाहे बहु मूल्य पदार्थ निवेदन करो चाहे अल्प मूल्य पदार्थ उत्सर्ग करो चाहे अच्छे अच्छे

मिष्टान्न आदि श्रेष्ठ पदार्थ दान करो चाहे फल मूल आदि सेही पूजा करो उन के सामने सब एकही हैं। स्मृतिकारों ने भी कहा है कि, "देवता भक्ति मिच्छन्ति," अर्थात् भगवान् के सामने चाहे नाना प्रकार के पदार्थ रक्खो . और चाहे सर्व वेद मंत्रों का पाठ करजाओ, परन्तु फल उतना ही होगा कि जितनी भक्ति साधक में होयगी ॥

सुकृतत्वात्परहेतुश्च भावाश्च क्रियासु श्रेयस्य॥७१॥

यह सब कार्य परा भक्ति में पहुँचने के हेतु रूपहैं, एवं सब प्रकार के पुण्य कार्य्यों में श्रेष्ठ हैं ॥ ७१ ॥

इस प्रकार की गौणी भक्ति कि जिसका वर्णन पूर्व सूत्रों में आया है उसका साधन करते करते ही क्रमशः साधक निर्मल बुद्धि हो पराभक्ति का अधिकारी होजाता है । इसी कारण इन सब गौणी भक्ति के साधनों को परा भक्ति की प्राप्ति का हेतु करके वर्णन किया है । पुण्य कार्य्य करने का फल यह है कि साधक पुण्य संचय द्वारा क्रमशः उच्च लोकों को प्राप्त करता हुआ भगवत् लोक का अधिकारी होजाता है; जब गौणीभक्ति से एका एक ही भगवत् साक्षात्कार की सम्भावना है, तो इस साधन से और अधिक पुण्यजनक कार्य्य क्या हो सकता है । वेद विहित सत्कर्म्म अनुष्ठान द्वारा जीव क्रमशः उच्चतर लोकों की प्राप्ति किया करता है, और पुनः उन उच्च लोकों में जीव सत्संग प्राप्त द्वारा क्रमशः ब्रह्मज्ञान लाभ कर सकता है; अर्थात् सत्कर्म्म साधन से जीव को भगवत् ज्ञान प्राप्ति करने का अवकाश मिलता है; परन्तु गौणी भक्ति द्वारा भगवत् उपासना करते करते जीव स्वतः ही पराभक्ति लाभद्वारा मुक्त हो जाताहै; इस कारण यह कहना ही पड़ेगा कि गौणी भक्ति का साधन सत्कर्म्म साधनों से अति उत्तम ही है ॥

गौणं त्रिविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वात् साहचर्यम् ॥ ७२ ॥

गौणी भक्ति तीन प्रकार की होती है, उनके साथ ज्ञानी भक्ति का
नाम केवल मर्य्यादा बढाने के अर्थ ही आया है ॥ ७२ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्तिमार्ग का वर्णन करते समय श्रीभगवान् ने आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी के नामसे चार प्रकार की भक्ति वर्णन की है । सूत्रकार महर्षि कहते हैं कि उन चार प्रकार की भक्तियोंमेंसे प्रथम तीन प्रकार की भक्तियां गौणी भक्ति का भेद है और चतुर्थ ज्ञानी भक्ति ही पराभक्ति है; इस ज्ञानी भक्ति का वर्णन उन तीन प्रकार की गौणी भक्तियों के साथ करने के कारण केवल गौणी भक्ति की प्रशंसा करने के अर्थही है । आर्त भक्त उसे कहते हैं कि जो विपत्ति में पड़के अपने उद्धारार्थ श्रीभगवान् के शरणापन्न होताहै । जिज्ञासुभक्त उसे कहते हैं कि जो भगवत्तत्त्व जानने के अर्थ शास्त्र में और गुरु वाक्य में विश्वास करके भगवद्भक्ति करताहो । और अर्थार्थीभक्त उसे कहते हैं कि जो अपनी किसी कामना की सिद्धि करने के अर्थ श्री-भगवान् में भक्ति करताहो। इस सूत्र का यही तात्पर्य्य है कि सत्त्व, रज और तमगुण के भेदसे गौणी भक्ति के साधक गणों के आर्त, जिज्ञासु, और अर्थार्थी नामसे तीन भेदहैं । और इन तीनों के उपरान्त जो ज्ञानी भक्त नाम शास्त्रों में देख पड़ता है वह भक्ति श्रेष्ठ पराभक्ति के अधिकारी गणों के अर्थही है ॥

बहिरन्तरस्थमुभयमवेष्टि सर्ववत् ॥ ७३ ॥

यज्ञ का अवेष्टि और सबके नाई भीतर और बाहर
दोनोंमें समझा जाताहै ॥ ७३ ॥

यज्ञ का अवेष्टि (यज्ञकाद्रव्यविशेष) कभी कभी यज्ञ

का अन्तर्गत और कभी कभी यज्ञका बहिरंग करके बर्णन किया है । "बृहस्पति सब" वाजपेय यज्ञ का अंश समझा जाता है, परन्तु कहीं कहीं वेद में उसको अलगही करदिया है । इसी प्रकार से कीर्तन आदि में भक्ति का उदय होता है इस कारण उसको पराभक्ति के अन्तर्गत कह सक्ते हैं; परन्तु उसमें विशेष रुचि रहने से वही गौणीभक्ति होजाती है । इस सूत्रसे तात्पर्य्य यहहै कि गौणीभक्ति के सब साधनों में रुचि और कर्तव्य बुद्धि रहती है तबतक उनका साधन ही गौणीभक्ति कहाताहै; परन्तु यदि विधि निषेध से रहित होकर स्वतः ही उन साधनों को पराभक्ति के अधिकारीगण करें तब वही गौणीभक्ति से अलग समझा जायगा, अर्थात् जबतक विधि निषेध है जबतक कर्त्तव्य बुद्धि है तभीतक गौणीभक्ति कहावेगी; और उससे आगे तदाकार भाव में पहुँचने से वही अवस्थापर भक्ति कहलाने लगेगी ॥

भूयसामननुष्ठितिरितिचेदाप्रयाणमुपसंहारान्महत्स्वपि ७४

भक्त लोग अधिक कर्म्म नहीं करते हैं ऐसा नहीं है, भेद इतनाहीं है कि वे सब इस नियमके आधीन होजाते हैं ॥ ७४ ॥

जैसे कर्म्मी लोग नाना प्रकार के सत्कर्म्म, याग, यज्ञ, और तपस्या आदि सत्कर्म्म अनुष्ठान किया करते हैं; उसीप्रकार भक्तगण भी सत्कर्म्म करते हैं; परन्तु भेद इतनाहीहै कि कर्म्मी लोग कर्म्म में फँसे रहते हैं, और भक्तगणों की मनोवृत्ति श्रीभगवान् में रहने के कारण उनकी दृष्टि कर्म्म की ओर रहती ही नहीं। वह स्वभावसे ही सत्कर्म्म किया करते हैं परन्तु कर्म्म के फलकी ओर देखते ही नहीं । यदि मुक्तपुरुष भगवत् भक्तगण सत्कर्म्म न करते

तो आजदिन सत्कर्म्मों का लोप जगत् से होजाता; यह मुक्तात्मा महर्षिगणों के निष्काम सत्कर्म्म साधन का ही कारण है कि आजदिन तक अनन्त वेदसम्मत शास्त्र प्रकटित रहकर त्रितापतापी जीवों का उद्धार कर रहे हैं ॥

स्मृतिकीर्त्योः कथादेश्चार्तौ प्रायश्चित्तभावात् ॥ ७५ ॥

भगवत् नाम आदि स्मरण और कीर्तन करना आर्त भक्तगणों का प्रायश्चित्त रूप है ॥ ७५ ॥

आर्त भक्तगण जब भक्ति साधन द्वारा विपत्ति से मुक्त होकर भगवत् भक्ति प्राप्ति की चेष्टा करते हैं तो उससमय उनका ताप कैसे दूर होजाताहै ? ऐसे प्रश्नों के उत्तर में महर्षि सूत्रकार कहरहेहैं कि भगवत् नाम आदि श्रवण और कीर्तन द्वारा स्वतः ही उनका पाप दूर होजाता है । आर्तभक्त गण तीन प्रकार के गौणीभक्तोंमेंसे श्रेष्ठ और सत्त्वगुणावलम्बी होते हैं, इस कारण उनके अन्तःकरण में सत्त्वगुण का प्रभाव रहने के कारण उनका विश्वास श्रीभगवान् में अधिकही होता है और उनका चित्त भी भगवतशरण में अधिकही लगता है । इसकारण त्रितापहारी भगवान् को अधिक रूपेण स्मरण करनेसे शीघ्रही उनके पाप राशि का नाश होजाताहै । भगवत् शरण लेने से भगवत् कृपा होती है और सर्वशक्तिमान् भगवान् की कृपा होने से स्वतःही त्रितापतापी भक्त के हृदय का ताप दूर होजाताहै ॥

लघ्वपि भक्ताऽधिकारे महत्क्षेपकमपरसर्वहानात् ॥७६॥

थोड़ीसी भक्ति उदय होनेपर भी महापातक का नाश होजाताहै॥७६॥

यह पूर्वही सिद्ध हो चुका है कि भक्तिद्वारा समाधि की प्राप्ति हुआ करती है; योग सूत्रों में इसका भी भलीभांति

प्रमाणहै कि क्षणिक समाधि से असंख्य महापाप नष्ट होजाते हैं इसकारण योगदर्शन युक्ति द्वारा यह सिद्धहीहै कि थोड़ीसी भक्ति उदय होतेही अनेकानेक पातकोंका नाश होजाताहै । जीव जो कुछ कर्म्म करता है उसका संस्कार उसके चित्तपर रहजाता है, पुनः कालान्तर में वही संस्कार वीज वृक्षरूपेण प्रकाशित होकर जीवगणों को त्रिताप ताप प्रदाम किया करते हैं; परन्तु क्लेशों के प्रकाशित होने में वे चित्त संग्रहीत संस्कारही कारण होते हैं । समाधि अवस्था में साधक साम्यावस्था को प्राप्त करने पर उसका अन्तःकरण अपने स्वरूप को प्राप्त होजाताहै; अर्थात् सृष्टि विस्तार कालीन जैसे अन्तःकरण वहिर्मुख होकर तन्मात्रा द्वारा इन्द्रियों में, और इन्द्रिय विषयों में प्रविष्ट होकर सृष्टि कार्य किया करते हैं समाधि अवस्था में वैसा नहीं होता; तव अन्तःकरण अपने स्वरूप में ही रहता है और तन्मात्रा इन्द्रिय आदि भी उसी प्रकार अपने अपने रूपमेंही स्थित रहते हैं । सृष्टि कालीन अन्तःकरण के विभाग रूपी मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार अपना अपना यथावत् कार्य्य द्वारा सृष्टि किया करते हैं; अर्थात् अहंकार रूपी अहंतत्त्व अर्थात् अविद्या के वलसे चित्त संस्कार संग्रह और प्रदान करने में, मन संकल्प विकल्प करने में और बुद्धि विचार करने में प्रवृत्त रहते हैं । परन्तु समाधि अवस्था में वैसा नहीं होता, इस अवस्था में वे अपने अपने स्वरूप में लय होकर कार्य्योंको भूल जाते हैं और इसी प्रकार उनका समष्टिरूप अन्तःकरण अपने स्वरूप को प्राप्त होजाता है । भगवद्भक्ति प्राप्ति के कारण से साधक का अन्तःकरण समाधिस्थ होनेपर, निर्मलताके कारण उसमें भगवद्भाव रूपी सूर्य्य का प्रकाश स्वतःही

होजाताहै; सूर्य्य के उदय से तम रहही नहीं सकता इस कारण तब अहंकार रूपी अविद्या नाश को प्राप्त होजातीहै। अहंकारही चित्त आदि शक्तियों की क्रिया को करा रहाथा, जब अहंकार लोप हुआ तो चित्त आदि भी शक्तिहीन हो पड़े; इसकारण समाधि से अहंतत्त्व का लय, और अहंतत्त्व के नाश से चित्त के लय के साथ पूर्व्व कर्म्म संस्कारों का भी नाश हो जाता है और संस्कार नाश होतेही पुनः वृक्षरूप महापातक समूह भी स्वतःही नाश को प्राप्त होजातेहैं अर्थात् उन के बीजरूप संस्कार नाश होने से वह पुनः उत्पन्नही नहीं होसकते। जितना भगवत्भक्ति का उदय होगा उतनाही साधक का अन्तःकरण समाधिस्थ होगा और जितना साधक समाधिस्थ रहेगा उतनाही पापरहित होजायगा; इसकारण यही सिद्ध हुआ कि थोड़ी सी भक्ति के उदय होने पर भी महा महापातकों का नाश होजाता है॥

तत्स्थानत्वादनन्यधर्मःखलेवालीवत् ॥ ७७ ॥

भगवत्भक्तों का भगवत्धर्म्म अर्थात् भक्ति क्षुद्र होने पर
भी वह अनन्यता के कारण खरल में वाला की नाईं
उन के महापाप भी नष्ट होजाते हैं॥ ७७ ॥

पूर्व्व विचार को दृढ़ करने के अर्थ उदाहरणरूपेण महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, जैसे वैद्य गणों का औषधि पीसने का यंत्र खरल में बाला औषधि जितना देओ सबही पिस जाता है, वैसेही भगवत्भक्तों के कर्म्मानुष्ठान कितनाही अल्प हो परन्तु भक्त की अनन्यबुद्धि के कारण उस में भगवत्शक्ति का आविर्भाव होने से महा महापाप राशि भी चूर्ण विचूर्ण होकर नष्ट होजाते हैं। भगवत्शक्ति का उदय होतेही न तो पाप और न पुण्य दोनोंही प्रकार के बंधन भक्त को

स्पर्श नहीं कर सक्ते। श्रीमद्भगवत्गीता में भी श्रीभगवान् ने निज मुख से कहा है कि, " अहंत्वांसर्वपापेभ्योमोक्षयिष्यामिमाशुचः। " अर्थात् हे अर्जुन ! तुम बैध और अवैध सब कामों को त्याग कर के केवल मेरेही शरण आओ, मैं तुम्हें तुम्हारे सब पापों से मुक्त करूंगा ॥

आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात्सामान्यवत् ॥ ७८ ॥

भगवत्भक्ति में चांडाल आदि का भी अधिकार है; क्योंकि भगवत् भक्तगण भगवत्भक्ति की मर्यादा से सब समान हैं ॥ ७८ ॥

अब महर्षि सूत्रकार भक्ति मार्ग का दूसरा जीव हितकारी उपकार और बिलक्षणता कह रहे हैं और कहते हैं कि भगवत्भक्ति में चांडाल पर्य्यन्त सबही का अधिकार है। वैदिक कर्म्म और ब्रत तपस्यादि में सब मनुष्यों का समान अधिकार नहीं है क्योंकि उन में वर्णाश्रम का विचार रक्खा गया है; ज्ञान और योग में भी सब साधकों को अधिकार नहीं मिल सक्ता, क्योंकि उन के साधनों में भी अधिकार भेद है; परन्तु भगवत्भक्ति करने का किसी को भी निषेध नहीं है। भक्तिमार्ग में न तो वर्ण आश्रम का विचार है और न ऊंच नीच, श्रेष्ठ निकृष्ट देखने की विधि है; वह भक्तिमार्गही है कि जिस में मनुष्य की तो गणनाही नहीं, उस में गज, गृध्र और वानर आदि का अधिकार देखने में आता है। विशेषतः वैदिक मार्ग और योग आदि क्रियाओं का साधन भारतवासी आर्य्यों मेंही सम्भव होसक्ता है, क्योंकि पृथिवी भर में भारत की प्रकृति ही पूर्ण है इसकारण यहां पूर्णावस्था के मनुष्य उत्पन्न होसक्ते हैं; परन्तु एक भक्तिमार्गही ऐसा मार्ग है कि जिस का साधन करके पृथिवी के और और देशवासी भी भगवान् को लाभ कर सक्ते हैं । भक्तिमार्गही

जगज्जननी महाविद्या की नाईं सब जीवों को ही पूर्णानन्द का अधिकार दान कर सकती है ॥

अतोह्यविपक्कभावानामपितल्लोके ॥ ७९ ॥

इसकारण साधक को पराभक्ति का लाभ न होने पर भी उस का निवास भगवत्लोक मेंही हुआ करता है ॥ ७९ ॥

शास्त्र विहित कर्म्मकांड के साधन करने से भक्तको स्वर्गादि नाना शुभ लोकों की प्राप्ति हुआ करती है, परन्तु यदि क्रिया असम्पूर्ण रह जाय तो पाप आदि से अधोगति भी होसकती है। परन्तु भक्तिमार्ग में ऐसा नहीं होता; यदि साधक गौणीभक्ति का साधन करते करते पराभक्ति को प्राप्त करलेता है तो उस की मुक्ति ही होजाती है; किन्तु यदि ऐसा न हो और साधक गौणीभक्ति के साधन मेंही रहजाय तो भी भगवत्भक्ति रूप संसार से उस को भगवत्लोक की ही प्राप्ति होती है, इस में कोई सन्देह नहीं। यह भक्तिमार्ग में भयहीनता और परम उपकारिता भक्तिमार्ग की और एक विलक्षणता है ॥

क्रमैकगत्युपपत्तेस्तु ॥८० ॥

क्रम के अनुसार गति की प्राप्ति कर्म्म द्वारा ही होती है ॥ ८० ॥

पूर्व सूत्रों में कहे हुये विचार को दृढ़ करने के अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि कर्म्म द्वारा अपने अपने क्रम के अनुसार क्रमशः सद्गति की प्राप्ति होती है, परन्तु भक्ति साधन में वैसा नहीं होता; भक्ति की यह और भी विलक्षणता है कि भक्ति साधन द्वारा तुरत ही परम कल्यान की प्राप्ति होती है। शास्त्रों में लेख है कि, "अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परांगतिं"। अर्थात अनेक जन्म जन्मान्तर के साधन से क्रमशः सद्गति की प्राप्ति होती है। साधकगण अपने

अधिकार के अनुसार वर्ण और आश्रम धर्म्म की रीति पर साधन करते हुये बहुत जन्म जन्मान्तर में क्रम के अनुसार उन्नत होकर सद्गति लाभ करते हैं । परन्तु निर्मल भक्ति का उदय होते ही जीव भगवत् साक्षात्कार से अनन्य बुद्धि हो तुरन्तही मुक्त होजाता है ॥

उत्क्रान्तिस्मृतिवाक्यशेषात् ॥ ८१ ॥

क्योंकि श्रीभगवान् ने भी कहा है कि उन के भक्तगण
सब कर्मों को उल्लंघन करके एकबार ही सिद्धि
लाभ करने में समर्थ होजाते हैं ॥ ८१ ॥

अब महर्षि सूत्रकार पूर्व विचार से आप्त प्रमाण दे रहे हैं और कहते हैं कि श्रीभगवान् ने निज मुखसे भी ऐसा कहा है। श्रीमद्भगवत्गीता में पाया जाताहै कि, "अपिचेत्सुदुराचारोभजतेमामनन्यभाक् । साधुरेवसमंतव्यःसम्यग्व्यवसितोहिसः ॥ क्षिप्रंभवतिधर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिंनिगच्छति । कौन्तेयप्रतिजानीहि नमेःभक्तःप्रणश्यति " अर्थात् हे कौन्तेय ! जो अनन्यचित्त होकर भक्तिपूर्व्वक मेरी आराधना करते हैं वे अतिशय दुराचारी होने पर भी उन को साधु करके जानना; दुराचारी गण भी यदि मेरी भक्ति करें तो शीघ्रही धर्म्मपरायण होकर शान्ति को प्राप्त कर लेते हैं। भगवत्भक्त जीव चाहे सदाचारी हो और चाहे दुराचारी हो, उस का नाश नहीं है, करुणामय भगवान् की कृपा से भक्तगण सब अवस्था में कल्याण को प्राप्त करते हैं इस में कोई सन्देह नहीं ॥

महापातकिनां त्वार्तौ ॥ ८२ ॥

महापातकियों की भक्ति को आर्तभक्ति में
समझना उचित है ॥ ८२ ॥

महापातकी गण किस क्रम से मुक्त होंगे इस विषय को

समझाने के अर्थ और जिज्ञासुओं के सन्देह दूर करने को महर्षि सूत्रकार ने इस सूत्र का आविर्भाव किया है। महापातकियों की भक्ति आर्तभक्ति है; आर्तगण जैसे भगवत् स्मरण करके पाप मुक्त होजाते हैं उसही रीति पर महापातकी गणों में भगवत्भक्ति का उदय होतेही उन के पूर्वकृत पापों का नाश होजाता है; और क्रमशः भक्ति की उन्नति के सहित उन का चित्त शुद्ध होता हुआ अन्त में उन को पराभक्ति का अधिकार प्राप्त होजाता है; और पराभक्ति का अधिकार ही मुक्तिरूप है। किस प्रकार से भक्ति द्वारा क्लेशों का तुरतही नाश होजाता है उस का विस्तारित विचार पूर्वही आचुका है इसकारण यहां पुनरुक्ति नहीं कीगई ॥

सैकान्तभावो गीतार्थ प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ८३ ॥

पराभक्ति का नामही ऐकान्तभाव है क्योंकि गीता में भी ऐसा लेख है ॥ ८३ ॥

अब महर्षि सूत्रकार भक्ति मार्ग के जिज्ञासु गणों की दृष्टि यथार्थ भक्ति अर्थात् भक्ति साधन का लक्ष रूप पराभक्ति की ओर आकृष्ट कर रहे हैं; और कह रहे हैं कि पराभक्ति ही ऐकान्तभाव है; पराभक्ति ही भक्ति साधन का लक्ष है। भक्ति मार्ग का उपदेश देते समय श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवत्गीता में जहाँ जहाँ भक्ति की पूर्ण अवस्था का वर्णन किया है वहां वहां अनन्य भाव को ही पराभक्ति का यथार्थरूप कहकर समझाया है। यथा " सर्व धर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणंव्रजेत् " और " अनन्याश्चिन्तयन्तो माम् " और "योमां पश्यति सर्वत्र" इत्यादि वाक्यों से श्रीभगवान् ने यही सिद्ध किया है कि जब भक्त का मन भगवत

के अनन्यप्रेम में लय होजाय, जब भक्त को सिवाय भगवत् के और कहीं भी कुछ न दिखाई दे वही अनन्यभाव को पराभक्ति कहा है ॥

परांकृत्वैव सर्वेषां तथाह्याह ॥ ८४ ॥

गीता के वाक्य पराभक्ति के साधन के अर्थ ही हैं ॥ ८४ ॥

अब इस सूत्र द्वारा सूत्रकार महर्षि पराभक्ति को ही सब साधनों का लक्ष करके सिद्ध कर रहे हैं; और कहते हैं कि एकमात्र पराभक्ति को ही लक्ष करके, और एकमात्र पराभक्ति की ही प्राप्ति के अर्थ परब्रह्म अवतार श्रीभगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र जीने श्रीमद्भगवत्गीता का उपदेश किया है। श्रीभग-वान् ने गीता में जो कर्म्म, उपासना, और ज्ञान स्वतंत्र स्वतंत्र वर्णन किये हैं वह सबही पराभक्ति को प्राप्त करने के अर्थही है । गीता के प्रथम छः अध्यायों का उपदेश गौणीभक्ति के निमित्त है; द्वितीय छः अध्यायों का उपदेश पराभक्ति के उदय करने के अर्थ है; और तृतीय अर्थात् शेष छः अध्यायों का उपदेश पूर्ण पराभक्ति धारण करने के अर्थ ही है । जो कुछ है सो भक्ति ही है; भगवत्भक्ति से ही जीव को पूर्ण कल्याण की आशा है, चाहे जिस प्रकार का साधन करो शेष में बिना भक्ति उदय के परम कल्याण प्राप्ति की सम्भावना नहीं है ॥

इति महर्षि शांडिल्य कृत भक्तिदर्शन अन्तर्गत द्वितीय अध्याय एवं तदन्तर्गत निगमागमी नामक भाष्य समाप्तः ।

तृतीयअध्यायः ।

प्रथमाह्निकः ।

भजनीयेनाद्वितीयमिदंकृत्स्नस्यतत्स्वरूपत्वात् ॥ ८५ ॥

यह सबही भगवान् का रूप है, इसकारण सेवन करने के योग्य है; अर्थात् यह समस्त उन से स्वतंत्र नहीं है ॥ ८५ ॥

शास्त्रों में संसार को कहीं कहीं असत्य लिखा है, इसकारण महर्षि सूत्रकार जिज्ञासुओं के सन्देह दूर करने के अर्थ कहते हैं कि सत् चित् आनन्दरूप भगवान् के स्वरूप का यह वहिर्जगत् विस्तार रूप विकाश है, अर्थात् उन से सिवाय और कोई भी पदार्थ नहीं । केवल जीव अपनी अल्पज्ञता के कारण स्वतंत्र स्वतंत्र विषयों में फँसकर यथार्थ सर्वव्यापक आनन्द का अधिकारी नहीं होसकता; नहीं तो यथार्थ में सब एक ही हैं, केवल जीव दृष्टि सेही अलग अलग देखने में आते हैं; इसकारण असत् करके कोई भी पदार्थ नहीं है। सार्व्वभौम दृष्टि उदय होते ही यह सब एक रूप ही अनुभव होने लगता है ॥

तच्छक्तिर्माया जड़ सामान्यात् ॥ ८६ ॥

भगवत् शक्ति का नाम ही माया है; वह चैतन्य शून्य होने पर जडवत् है ८६

शास्त्रों में कहीं कहीं पाया जाता है; कि यह संसार माया का रूप है, इसकारण जिज्ञासुओं के सन्देह दूर करने के अर्थ महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि, माया कह के श्रीभगवान् से स्वतंत्र कोई नूतन पदार्थ नहीं हैं, उन की विचित्र शक्ति का नाम ही माया है। और उस माया में जहां जितना कम चैतन्य अंश है, उस चैतन्य अल्पज्ञता के कारण उस को उतनाही जड़ रूप कहा जाता है। जगत् को माया न कह

कर भगवत्शक्ति का विकाश कहने से आत्मविचार में भेद नहीं पड़ेगा । उदाहरण रीति पर विचार सकते हैं कि, मनुष्य में ज्ञानरूपी चेतन अधिक होने के कारण मनुष्य सब जीवों में श्रेष्ठ है; परन्तु जरायुज, अंडज, स्वेदज यह तीन प्रकार के जीव ही विशेष चेतनवान् हैं; इन तीनों उपरान्त चतुर्थ उद्भिज्ज जीवों में वह चेतन अंश न्यून होने के कारण ही पूर्व्व जीवों से यह जीव अधिक जड़वत् हैं, तद्पश्चात् प्रस्तरआदि में जड़ का पूर्ण विकाश हुआ है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट ही अनुभव होगा कि जितना जितना चैतन्य अंश न्यून होता गया है उतना उतना ही जड़ अंश बृद्धि को प्राप्त होता गया है; परन्तु यह सबही जीव हैं, केवल जड़ाधिक्य के कारण जड़ और चैतन्याधिक्य के कारण चैतन्य कहा गया है; और इसी प्रकार सृष्टि का और और विस्तार भी समझना उचित है । यह सृष्टि और कुछ नहीं है केवल शक्तिमय श्रीभगवान् की शक्ति का विकाश ही है ॥

व्यापकत्वाद्व्याप्यानाम् ॥ ८७ ॥

व्यापक की सत्यता के कारण व्याप्य भी सत्य है ॥ ८७ ॥

सच्चिदानन्द का सत् अंश चित् अंश में, और चित् अंश आनन्द अंश में व्याप्त है, इसकारण परस्पर व्यापकता के कारण सबही सत्‌रूप हैं । जब ईश्वर सत् हैं, तब उन की शक्ति का विस्तार यह संसार भी सत् है। पूर्ण ज्ञान के उदय होते ही यह सब अनन्तरूप एक रूप ही भासमान होने लगता है; विश्वब्रह्माण्ड व्यापक परमेश्वरही विश्वरूप धारी श्रीभगवान् हैं । भगवतभक्त की दृष्टि में उनके हृदय विहारी प्राणनाथ का विश्वरूप यह ब्रह्माण्ड है ॥

नप्राणिबुद्धिभ्योऽसंभवात् ॥ ८८ ॥

यह कोई मनुष्य की बुद्धि कल्पित भी नहीं है ॥ ८८ ॥

यदि कोई और मतावलम्बी वैज्ञानिक विचारक ऐसा विचार करें कि, जो मनुष्य बुद्धि में न आवे उस में विश्वास करना उचित नहीं है (ऐसे विचारक गण पुराकाल में चारबाक् आदि नामसे प्रसिद्ध हुए हैं, और आज कल के नवीन पश्चिमी वैज्ञानिक गणों का भी मत यही है)। इसकारण जिज्ञासुओं के सन्देह निवारण करने के अर्थ महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि जिस शक्ति द्वारा यह जगत विरचित है वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण मनुष्य बुद्धि से अगम्य है; सूक्ष्म शक्ति से ही यह स्थूल संसार बना है, तो बताओ स्थूल संसार कैसे सूक्ष्म शक्ति को धारण कर सकेगा। हेनास्तिकबादीगण ! अन्ध मनुष्य के हस्तिदर्शन के नाईं यदि तुम्हारी अल्पबुद्धि से तुम भगवत्भक्ति की महिमा न समझसको तो क्या बुधगण भी उसको अस्वीकार कर सक्ते हैं॥

निर्मायोच्चावचं श्रुतीश्चनिर्मिमीते पितृवत् ॥ ८९ ॥

भूत समस्त रचना के नाईं वेद भी प्रकाशित हुआ है; जिस भांति पिता करता है ॥ ८९ ॥

वेद के मत समर्थन को अर्थ महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि, जैसे सन्तान उत्पन्न होने के पश्चात् सन्तान का पिता उस की शिक्षा को कर्त्तव्य समझकर उस सन्तान के हितार्थ शिक्षा का भली भांति उपाय कर दिया करते हैं; उसी प्रकार श्रीभगवान् ने निज अंश से जगत् की सृष्टि करके जगत् के कल्याणार्थ ही वेद की व्याख्या की है। जैसे लीलामय श्री भगवान् का प्रकृति अंश लीलावश विस्तार को प्राप्त होकर इस संसार के रूप को धारण कर लेना है;

वैसेही श्रीभगवान् के ज्ञान अर्थात् चैतन्य अंश से संसार के हितार्थ ही वेद प्रकट हुए हैं। ज्ञान सेही सब कुछ जाना जाता है; ज्ञानही चैतन्य का रूप है; ज्ञानही जीव का जीवत्व है; ज्ञानके आधिक्य सेही जीवकी क्रमोन्नति होती है; ज्ञान द्वाराही सत् असत् विचार की सहायता से जीव कल्याण प्राप्त कर सकता है। वेद और कुछ नहीं है केवल पूर्ण ज्ञान के [illegible]ंश मात्र हैं; जीव के कल्याणार्थही वे भाव से बोध, बोध से अर्थ, और अर्थ से शब्द द्वारा प्रकाशित हुए हैं। वेद अपौरुषेय हैं; और वे जीवगणों के हितार्थ श्रीभगवान् द्वाराही प्रकाशित हुए हैं इसमें कोई भी सन्देह नहीं ॥

मिश्रोपदेशान्नेति चेन्नस्वल्पत्वात् ॥ ९० ॥

उस में मिश्रित उपदेश है इसकारण आशंका मत करो, और वे थोड़ेही हैं ॥ ९० ॥

यदि वेद में ज्ञान और भक्तिमार्ग वर्णन के साथ नाना कर्म्मकांड और उपाख्यान आदि देखने से जिज्ञासुगण विचलित हों इस कारण महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि उनको देखकर विचलित मत हो। नाना उपदेश और कर्म्मकांड आदि साधक के चित्त शुद्धि के अर्थ हुआ करते हैं, उसके बिना ज्ञान और भक्ति का अधिकार नहीं मिल सकता। इसकारण बहुतही आवश्यकता समझ कर कर्म्मकांड आदि भी उसमें रक्खा गया है; परन्तु तो भी वेदों में ऐसे उपदेशों का भाग बहुत थोड़ाही है । प्रेममय श्रीभगवान् तो भक्ति रूपही हैं, इसकारण भक्ति वर्णन तो वेदों में रहेहीगा; और ज्ञान द्वारा ईश्वरभक्ति की प्राप्ति और ईश्वर साक्षात्कार लाभ होता है, इसकारण ज्ञान भी रहना अवश्य सम्भावी है। कर्म्मकांड द्वारा चित्त शुद्धि होती है,

चित्त शुद्धि से ज्ञान का विकाश, और तद्पश्चात् भक्ति की प्राप्ति होती है; प्रथम अधिकारियों के अर्थ कर्म्मकांड की बहुतही आवश्यकता है, क्योंकि उन का कल्याण और उनकी क्रमोन्नति बिना कर्म्मकांड के नहीं होसक्ती; इसकारण कर्म्मकांड का वेदों में रहना भी उचितही है। और उपाख्यान भी जिज्ञासुगणों के बोधार्थ बहुत ही आवश्यकीय हैं; उदाहरण द्वारा जैसे शी॰ पदार्थ का बोध कराया जाता है वैसे और किसी द्वारा नहीं कराया जा सक्ता; वे उपाख्यान सत्य पदार्थ के बोधार्थ उदाहरण रूप हैं इसकारण वेदों में उनका होना भी आवश्यकीय है। उपाख्यान और कर्म्मकांड ज्ञान सहायक, और कर्म्मकांड और ज्ञानकांड भक्ति सहायक होने से उन सबों का उपदेश वेदों में आया है; वे सब ही पराभक्ति रूप कैवल्य पद की प्राप्ति के अर्थही हैं॥

फलमस्माद्बादरायणो दृष्टत्वात्॥ ९१॥

बादरायण कहते हैं कि कर्म्म स्वयं फलदाता नहीं है; ईश्वरही कर्म्म के फलदाता हैं; ऐसा देखने में भी आता है॥ ९१॥

कोई कोई मतावलम्बी वैज्ञानिक गणों ने ऐसा प्रमाण किया है कि जो कुछ है सो कर्म्मही है, और कर्म्मही प्रधान होने पर ईश्वर विचार की कोई भी आवश्यकता नहीं। ऐसे मतों को देखकर जिज्ञासुगण कहीं भटक न जावें इसीकारण महर्षि सूत्रकार ने इस सूत्र का आविर्भाव किया है। सब प्रकार के वैज्ञानिकों में वेदान्तदर्शनकर्ता श्रीभगवान् वेदव्यासही सर्वश्रेष्ठ कहे जाते हैं, इसकारण सूत्रकार जी ने उनकेही मत को यहां प्रमाण रूप से वर्णन किया। श्री भगवान् वेदव्यास का यह मत है कि कर्म्म जड़ है; जड़

पदार्थ में फलदान की शक्ति कहां; कर्म्म के अनुसार जगत्-कर्त्ता ईश्वरही सत असत् कर्म्मों का फल दिया करते हैं। महर्षि सूत्रकार अपना मत भी कहते हैं कि यही ठीक है, क्योंकि ऐसा देखने में भी आता है। विचारिये कि, इस संसार में जो कोई सत् या असत् कर्म्म करता है, उसे देश-पति राजा ही उस किये हुए सत् और असत् कर्म्म का फल रूप राज सन्मान अथवा दंड दिया करते हैं; कुछ कर्म्म ही अपने आप फल की उत्पत्ति नहीं कर सकते, परन्तु राजशक्ति द्वारा ही फल की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार युक्ति और आप्त प्रमाण द्वारा महर्षि सूत्रकार जी ने कर्म्म की गौणता और सर्व्वशक्तिमान् जगत्कर्त्ता ईश्वर की प्रधानता को सिद्ध कर दिखाया है। इस सूत्र से यही तात्पर्य्य है कि यदिच सत् असत् कर्म्म सेही सुख और दुःखरूपी फलों की उत्पत्ति हुआ करती है परन्तु फलदाता ईश्वरही हैं; इसकारण मुमुक्षुजीव गणों को, बुद्धिमान् मनुष्य गणों को कर्त्तव्य है कि वे उनकी शरण में आवें और जगत्पति श्रीभगवान् कोही सब कुछ करके माने॥

व्युत्क्रमादप्ययस्तथादृष्टम् ॥ ९२ ॥

विलोम रीति से लय हुआ करता है ॥ ९२ ॥

अब महर्षि सूत्रकार लय क्रम का वर्णन कर रहे हैं; और कहते हैं कि बिलोमरीति से ही लय हुआ करता है अनु-लोम क्रम से सृष्टि हुआकरती है, और उसके बिपरीत अर्थात् विलोम रीति से लय होता है। यथा ब्रह्म से प्रकृति, प्रकृति से महतत्व, महतत्व से अहंतत्व, अहंतत्व से तत्-पश्चात् आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथिवी उत्पन्न होती हुई सृष्टि का वि-

स्तार होजाता है; परन्तु लय होते समय इससे विपरीत होता है,अर्थात् विस्तार सृष्टि पृथिवी सहित अपने कारण जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में आकाश अहंतत्व में, अहंतत्व महतत्व में, महतत्व मूल प्रकृति में, और प्रकृति ब्रह्म में लय को प्राप्त होकर स्वरूप भाव की प्राप्ति होजाती है । यही विस्तर भाव का नाम सृष्टि और संकोच भाव रूपी स्वभाव का नाम ही लय है । वृक्ष रूप विस्तार सृष्टि और बीज रूप लयावस्था स्वभाव दोनों ही सत्व हैं; केवल जीव की अन्तर्दृष्टि हीनता रूप अज्ञान से ही, और केवल भगवत्भक्तिरूप अनन्यप्रेम के न होने से ही जीव को यह सब विस्तार स्वतंत्र स्वतंत्र अनुभव होता है; जब ही जीव को अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति होगी, तब ही भगवत्कृपा से उसको भगवत्भक्ति का लाभ होगा, तब ही वह स्वरूप को प्राप्त होकर त्रिताप से मुक्त होता हुआ लय रूपी मोक्षपद को प्राप्त होजायगा ॥

द्वितीयाह्निकः ।

तदैक्यंनानात्वैकत्वमुपाधियोगहानादादित्यवत् ॥ ९३ ॥

वह एक ही है, क्योंकि उपाधि का नाश होनेपर नाना रूप ही एक रूप होजाता है; सूर्य्य के नाईं ॥ ९३ ॥

अब महर्षि सूत्रकार लयावस्था के भाव को व्याख्या कर रहे हैं और कहते हैं कि, जैसे शास्त्रोक्त "ध्येयस्सदासवितृमंडलमध्यवर्ती" इत्यादि वाक्यों से श्रीभगवान् का रूप और सूर्य्यमंडल पृथक् पृथक् वर्णन किया गया है, परन्तु मंडल रूप उपाधि का परित्याग कर देने से एकमात्र भगवत् संज्ञा ही रहजायगी । इसीप्रकार इस ब्रह्माण्ड और

सर्वव्यापक ईश्वर को भी समझना उचित है; यह संसार का नाम भगवत्सत्ता में लय हो जानेपर संसार और श्रीभगवान् में कोई भी स्वतंत्रता नहीं रहेगी ॥

पृथगिति चेन्नपरेणासम्बंधात्प्रकाशानाम् ॥ ९४ ॥

पृथक् भी नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा कहने से प्रकाश की नाईं भगवान् से असम्बन्ध होगा ॥ ९४ ॥

प्रकाश का सम्बन्ध जैसे श्रीभगवान् में और सूर्य्यमंडल में अभिन्न है। क्योंकि यदि कहें कि, श्रीभगवान् सूर्य्यमंडल से सम्पूर्ण अलग है तो यही समझ में आवेगा कि प्रकाशरूप सूर्य्यमंडल अलग है और भगवान् अलग हैं; परन्तु ऐसा नहीं होसक्ता क्योंकि श्रीभगवान् का ज्योतिर्मय रूप वर्णन करने के अर्थ ही सूर्य्यमंडल का विचार रक्खा गया है; और इस ही विचार से इस भगवत् ध्यान में प्रकाश का सम्बन्ध सूर्य्यमंडल और श्रीभगवान् में एक ही है। इस ही विचार के अनुसार ब्रह्माण्ड में और ईश्वर में भिन्नता स्थापन नहीं हो सक्ती ॥

नविकारिणस्तुकारणविकारात् ॥ ९५ ॥

विकार भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कहने से मूल कारण में विकार होने का डर होजायगा ॥ ९५ ॥

यदि कोई ऐसा कहने लगें कि यह संसार भगवत् विकार है; तो ऐसा अयुक्ति कथन सम्भव ही नहीं होसक्ता। क्योंकि निर्विकार भगवान् में विकार का सम्भव होना सम्पूर्ण असम्भव है। विकार वर्जित ब्रह्म सेही इस संसार की सृष्टि हुई है, इसकारण इस सृष्टि को विकार रूप भी कदापि नहीं कह सक्ते। इसकारण पूर्व सूत्रोक्त विचार

और इस सूत्रोक्त विचार से यही सिद्ध हुआ कि नतो संसार को श्रीभगवान् से पृथक् कह सकते हैं, और न संसार को भगवत् विकार ही कह सकते हैं । लीलामय श्रीभगवान् में ही यह भगवत् लीला रूप संसार प्रतिष्ठित है; केवल उनकी अघटन घटावनी महामाया के वश सेही यह अलग अलग भास रहा है ॥

अनन्यभक्त्यातद्बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तम् ॥ ९६ ॥

अनन्य अर्थात् पराभक्ति से बुद्धि की अत्यन्त लय होने से तन्मयी बुद्धि का उदय होता है ॥ ९६ ॥

जिस प्रकार तैलपाई कीट को कंचुकी कीट धारण करने पर, वह कंचुकी कीट का रूप चिन्ता करते करते तन्मयी बुद्धि युक्त होकर तैलपाई कीट अपने धारक कंचुकी भृङ्ग काही रूप बन जाता है; उसही प्रकार दृढ़ भक्ति युक्त साधक अपनी अनन्यभक्ति से श्रीभगवान् को चिन्ता करते करते सुख दुःख आदि उपाधियों से रहित होकर तुरत ही परमानन्द रूप को प्राप्त करलेते हैं। इस सूत्र द्वारा महर्षि सूत्रकार भक्ति द्वारा मुक्ति का क्रम समझा रहे हैं; और कहते हैं कि प्रेमसागर श्रीभगवान् में जब भक्त प्रेम युक्त होजाता है, तब उसका प्रेम प्रवाह जितना ही उस प्रेमसागर में मिलता जाता है उतनाही तरङ्ग की चंचलता ठहर कर परमानन्द की प्राप्ति हुआ करती है; अर्थात् प्रेमिक भक्त में जितनी भगवतभक्ति बढ़ती जाती है उतनाही वह ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता जाता है, और शेष में पराभक्ति की प्राप्ति द्वारा तन्मय बुद्धि होकर कैवल्यपद को प्राप्त कर लेता है ॥

आयुश्चिरमितरेषां तु हानिरनास्पदत्वात् ॥ ९७ ॥

साधारण जीव गणों की आयु प्रारब्ध भोग करने के अर्थ ही है, परन्तु भक्त गणों की आयु भोग के कारण न होने से उनके संचित कर्म्म अपने आपही नष्ट होजाते हैं ॥ ९७ ॥

अब यदि जिज्ञासु गणों के हृदय में सन्देह उठे कि वेद और वेद सम्मत शास्त्र समूह यह कहते हैं कि बिना कर्म्म क्षय के अर्थात् बिना कर्म्म फल भोग किये मुक्ति नहीं होती, तो अब एकाएक भक्त गणों की मुक्ति होना कैसे सम्भव है ? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर में महर्षि सूत्रकार जीने इस सूत्र का आविर्भाव किया है। महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि भगवत् भक्तों की परमायु साधारण जीव गणों की नाईं होनेपर भी उनका भोग उस प्रकार से नहीं होता; उनके सत् असत् कर्म्मों के भोग शीघ्रही होजाते हैं। जब भक्त के हृदय में पराभक्ति का उदय होने लगताहै, तब उस समय एक महूर्त का भगवत् विच्छेद भी साधक को सत् कोटि युग की नरकयंत्रणा के तुल्य अनुभव होताहै; और उसीप्रकार यथार्थ में एक महूर्त का भगवत् संग लक्ष लक्ष वर्षों के स्वर्गभोग के नाईं जान पड़ताहै । इसकारण इस रीति पर भक्त के हृदय में भगवत् संयोग, और भगवत् वियोग रूपी सुख और दुःख के भोग से तुरत ही साधक के सब संचित कर्म्म थोड़ेही काल में अग्नि द्वारा तूल राशि दहन की नाईं नष्ट होजाते हैं । जिसप्रकार भक्तिमार्ग साधन की विलक्षणता है उसप्रकार ही भक्तों के कर्म्म क्षय होने की भी विलक्षणता है; भगवत् भक्ति की महिमा अपार है ॥

संसृतिरेषामभक्तिः स्यान्नाज्ञानात् कारणाऽसिद्धे ॥ ९८ ॥

जीव अज्ञान के कारण बारंबार आवागमन चक्र रूप से संसार में भ्रमण नहीं करता है, परन्तु भक्तिहीनताही ने जीव को संसार रूप पाश में बांध रक्खा है; कारण में असिद्धि के कारण॥ ९८ ॥

अब महर्षि सूत्रकार भगवत् प्रेमियों के विचार के अनुसार त्रिताप रूपी बंधन का कारण अन्वेषण द्वारा साधक गणों का मुक्ति पथ सरल कर रहेहैं। और कहते हैं कि अज्ञान नाम से कोई विशेष पदार्थ नहीं है; क्योंकि सिवाय भगवत् के और दूसरी वस्तु का होना सम्भवही नहीं; इसकारण बंधन के कारण में अज्ञान का रहना असम्भव है। केवल भगवत् भक्ति के अभाव सेही जीव ऐसा भटकता रहताहै। श्रीभगवान् की अघटन घटना पटीयसी मायाही ने जीव को मोहरूप पाश से बांधकर संसार में लटका रक्खा है;इसकारण महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि बिना भगवत् भक्ति रूप अस्त्र द्वारा वह भगवत् शक्ति रूप पाश खुलही नहीं सकता; केवल भक्तिही मुक्ति का एकमात्र कारण है। श्रीभगवान् ने भी निज मुख से कहा है कि, दैवीह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंतिते;" अर्थात् दुष्परिहार्य मेरी गुणमयी माया मेंही जीव बँधा हुआ है, जो मनुष्य केवल मेरीही शरण लेता है अर्थात् मुझमें अनन्य भक्ति युक्त होता है वही मेरी इस माया से बचता है॥

त्रीण्येषांनेत्राणि शब्द लिंगाक्षभेदाद्रुद्रवत् ॥ ९९ ॥

महादेव के नाईं शब्द, लिंग, और अक्ष, यह तीन नेत्रों द्वारा जीव जान लेता है ॥ ९९ ॥

अब महर्षि सूत्रकार मुक्तात्मा की अवस्था बर्णन कर रहे हैं। और कहते हैं कि पराभक्ति युक्त जीव हो जानेपर वह देवाद्दिदेव महादेव रूप हो जाता है; जैसे महादेव के तीन नेत्र होते हैं वैसेही त्रिनेत्र होकर जीव भगवत् दर्शन करने लगताहै शब्दअर्थात् वेदाद्दिवाक्य,लिङ्ग अर्थात्परित्राणभूति शक्ति,और अक्ष अर्थात् इन्द्रिय गोचर ज्ञान; इन तीन प्रकार

के नेत्रों को धारण करके तब भक्त सर्वव्यापक प्राणस्वरूप श्री भगवान् को सब स्थान मेंही निहारते निहारते परम आनन्द सागर में मग्न हो जाता है। अर्थात् वह पराभक्ति युक्त भक्त तब शब्द ज्ञान द्वारा सकल स्थान में श्रीभगवान् को ही देखता है, तब वह भक्त लिङ्ग अनुभव द्वारा समाधिस्थ होकर अन्तर्ज्ञान से उन को ही निहारता है, और तब अक्ष ज्ञान द्वारा समस्त चराचर ब्रह्माण्ड को भगवत् रूप ही देखकर उनके ही प्रेम में मग्न रहता है। अर्थात तब जीव शिवरूप ही होजाता है॥

आविस्तिरोभावाविकाराःस्युः क्रियाफलसंयोगात्॥१००॥

लय और उत्पत्तिरूप क्रिया फल के संयोग से
विकार रूप दिखाई पड़ता है॥ १००॥

मुक्तावस्था को दृढ़ करने के अर्थ महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि केवल लय और उत्पत्ति क्रिया फल सेही यह विकारवत् प्रतीत होता है; नहीं तो एक ही रूप है। निर्विकार परम ब्रह्म में यथार्थ रूप से कोई भी विकार नहीं है; केवल जीवके मन की चंचलता रूप तरंग में उत्पत्ति, उच्छ्वास, और उपसंहार रूप भावान्तर अनुभव के कारण सृष्टि, स्थिति और लय रूप यह विचित्र संसार प्रतीत होता है; परन्तु यथार्थ में सिवाय एक रूप के और द्वितीय वस्तु नहीं है। पराभक्ति के उदय से जब मन शुद्ध होकर भगवत् दर्शन करने में समर्थ होता है तब ही वह जीव अपने आनन्द मय रूप को प्राप्त करके, जो यथार्थ में था वही हो जाता है। समुद्रकी तरंग समुद्र मेंही मिलकर समुद्र के ही रूप को प्राप्त हो जाती हैं;यही जीव रूप तरङ्गोंका ब्रह्मरूप समुद्र में लय हो जाना ही पराभक्ति है! भक्ति ही श्रेष्ठ है॥

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः हरिओं।

इति महर्षि श्री शाण्डिल्यकृत,

भक्तिदर्शन।

तत्सह " निगमागमी " नामकभाष्य समाप्तः।

निगमागम मण्डली की
नियमावली।

त्रिवेणी तीरपर गत महाकुंभ के मेले के समय भारतवर्ष के साधु-गणद्वारा सकल वर्णाश्रम के कल्याणार्थ यह सभा स्थापित हुई है ॥

सभाकालक्ष.–(१) सनातनधर्म्म का सार्व्वभौमिक भाव प्रचार करना (२) क्या साधुगण क्या गृहस्थ गणों में जो अनर्थ का मूल साम्प्रदायिक विरोध है उसको दूर करना (३) विद्या और सदाचार का प्रचार यह तीन प्रधान लक्ष इस सभाके हैं ॥

सभाके विभाग (१) साधु–समागम विभाग (२) संस्कृत विद्या-प्रचार विभाग (३) ग्रंथ-संग्रह विभाग (४) देवालय और मठ-संस्कार विभाग (५) सभाकार्य्य और शास्त्र–प्रचार विभाग, यह पांच विभाग सभा के हैं ॥

इस सभाका कार्य्यस्थल उत्तराखण्ड में रहेगा और इसका कार्य्य साधु-गणों की कृपा और तत्त्वावधारण के आधीन रहेगा। प्रत्येक कुंभके मेले पर अर्थात् त्रिवेणी कुंभ, गोदावरी कुंभ, उज्जैन कुंभ और हरिद्वार कुम्भ के मेले के समय इस सभा का प्रधान अधिवेशन हुआ करेगा ॥

आवश्यक–सूचना।

"निगमागममण्डली" सम्बन्धीय तथा मण्डली प्रकाशित पुस्तकों के विषय में यदि कोई जिज्ञासु कुछ पूछना या पत्र-व्यवहार करना चाहें वह श्रीमान् श्री १०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज-कामरूपमठ काशीधाम-इस पते से और नीचे लिखे हुए मेरे पते से करसकते हैं ॥

ठाकुरप्रसाद शर्म्मा,
स्वामी घाट–मथुरा.

ॐ
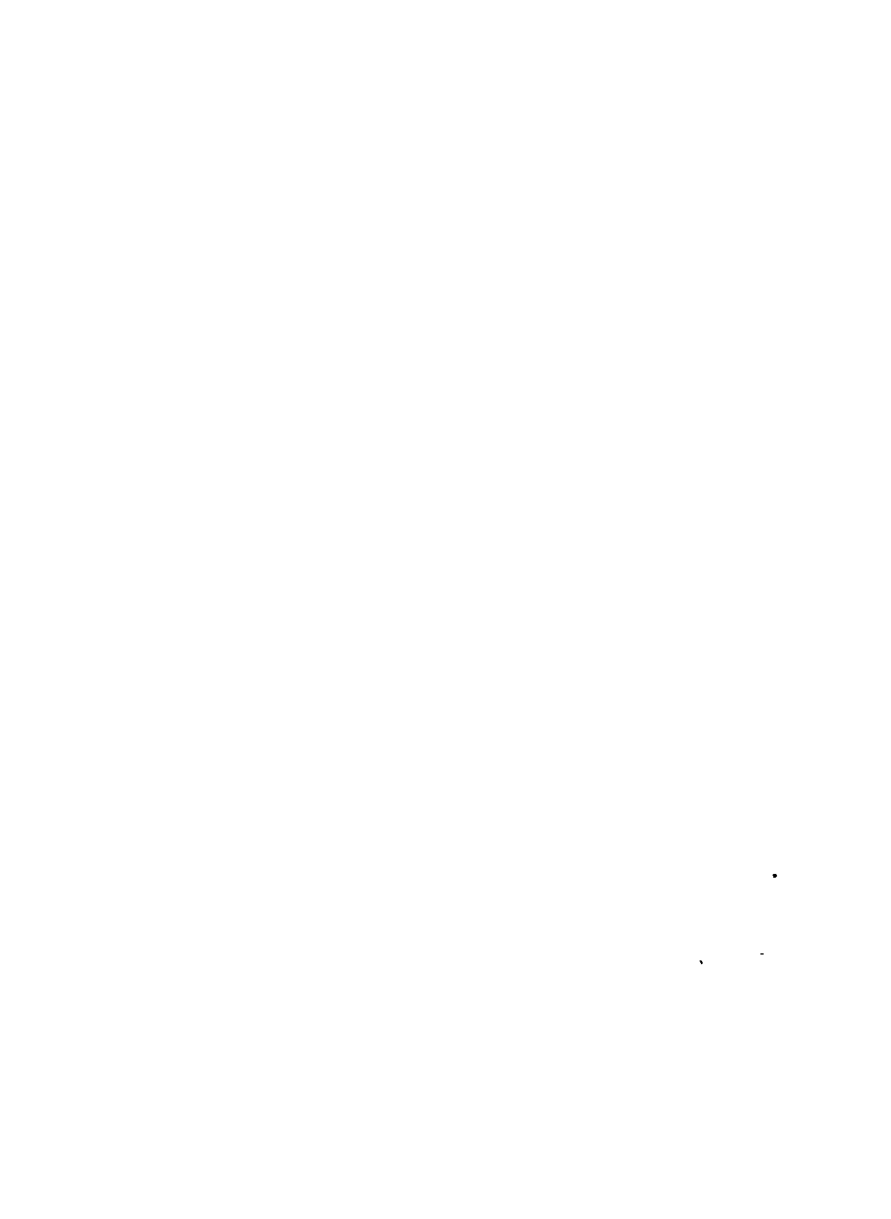
निगमागम मण्डली सम्बन्धीय सम्वाद विदित होनेका पता।

स्वामी ज्ञानानन्द जी महाराज–कामरूप मठ–काशीधाम।

निगमागम मण्डलीद्वारा प्रकाशित पुस्तक तथा मासिक पत्र आदि मिलनेका पता।

(१) श्रीमान् सेठ खेमराज श्रीकृष्णदास, "श्रीवेंकटेश्वर" छापाखाना, बम्बई॥

(२) श्रीमान् पंडित ठाकुरप्रसाद शर्म्मा, स्वामी घाट, मथुरा॥

(३) श्रीमान् मैनेजर "थिओसोफीकल्" बुकडिपो-अडायर, मदरास॥

(४) श्रीमान् सेक्रेटरी "थिओसोफीकल्–सुसायटी" कलकत्ता॥

(५) श्रीमान् सेक्रेटरी "देवनागरी–प्रचारिणी–सभा" काशी (बनारस)॥

(६) श्रीमान् मैनेजर "सनातन धर्म गज़ट" लाहौर॥

(७) एवम् भारतीय सब बड़े बड़े पुस्तक विक्रेता गणों के निकट प्राप्तव्य है॥